मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 113 ● वर्ष 12, अंक 8 ● अक्टूबर 2022 ● दस रुपये ● 16 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

कविता कृष्णन : सर्वहारा वर्ग की नयी ग़द्दार 7
माल, उपयोग-मूल्य, विनिमय-मूल्य और मूल्य 11-13
मज़दूरों की फ़िल्म समीक्षा : 'मट्टो की साइकिल' 14

सिर्फ़ एक धर्म विशेष क्यों, हर धर्म के धार्मिक कट्टरपन्थी अतिवादी संगठनों पर रोक क्यों नहीं?

संघ परिवार के साम्प्रदायिक फ़ासीवाद व धार्मिक कट्टरपन्थ को खुला हाथ क्यों?

आतंकवाद बहाना है, जनता ही निशाना है!

सम्पादकीय

हालिया दिनों में फ़ासीवादी मोदी सरकार ने पॉप्युलर फ़्रण्ट ऑफ़ इण्डिया के केन्द्रों और उसके सदस्यों पर देशभर में राष्ट्रीय जाँच एजेंसी द्वारा छापे डलवाये। पॉप्युलर फ़्रण्ट ऑफ़ इण्डिया (पीएफ़आई) को इस्लामी कट्टरपन्थी व आतंकवादी संगठन बताया गया है। इसमें कोई दो राय नहीं है कि पीएफ़आई एक धार्मिक कट्टरपन्थी और अतिवादी संगठन है। इसमें भी कोई दो राय नहीं है कि इसके पीछे इस्लामिक कट्टरपन्थी विचारधारा काम कर रही है और इसी विचारधारा के फैलाव के लिए यह संगठन काम करता रहा है। वैसे तो यह संगठन तमाम प्रकार की सामाजिक व आर्थिक सुधार की गतिविधियों का इस्तेमाल करता रहा है, लेकिन भारत सरकार की जाँच एजेंसियों के अनुसार, ये काम वास्तव में मुसलमान युवाओं के बीच इस्लामी कट्टरपन्थी अतिवादी विचारधारा के प्रचार-प्रसार और उनके धार्मिक रैडिकलाइज़ेशन के लिए किये जाते हैं। 2010 में केरल में एक ईसाई शिक्षक के हाथ काटे जाने की घटना से पीएफ़आई सुर्ख़ियों में आया था। उस मामले में कई दोषियों को सज़ा भी मिली थी। लेकिन पीएफ़आई उसके बाद भी सक्रिय रहा है और कई राज्यों में इसने अपना विस्तार किया था। मोदी सरकार की जाँच एजेंसियों ने पीएफ़आई को देश की 'सम्प्रभुता' और 'अखण्डता' के लिए ख़तरा बताते हुए उस पर आतंकवाद निरोधक क़ानून यूएपीए के तहत पाँच वर्षों के लिए पाबन्दी लगा दी है। इस दौरान देश में पीएफ़आई के दर्जनों कार्यालयों पर छापे डाले गये और सैंकड़ों सदस्यों को गिरफ़्तार किया गया। इस बात की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि पीएफ़आई के धार्मिक कट्टरपन्थ को बहाना बनाकर कई आम मेहनतकश मुसलमान युवाओं को भी निशाना बनाया जा रहा है। क्रान्तिकारी मज़दूर वर्ग हर प्रकार के दमन-उत्पीड़न के ख़िलाफ़ सबसे पुरज़ोर तरीक़े से लड़ने वाला वर्ग होता है और धार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय के आम युवाओं के इस प्रकार प्रताड़ित किये जाने पर भी वह चुप नहीं रह सकता है।

लेकिन यहाँ एक और अहम सवाल है। क्या पीएफ़आई देश में एकमात्र धार्मिक कट्टरपन्थी और आतंकवादी संगठन है? क्या केवल पीएफ़आई है जो जनता के बीच धार्मिक व साम्प्रदायिक कट्टरपन्थ और दक्षिणपन्थी अतिवादी सोच का प्रचार-प्रसार

(पेज 9 पर जारी)

मेहनतकश साथियो, संघ परिवार के लग्गू-भग्गुओं के चाल-चरित्र-चेहरे को पहचानो!

शुचिता और संस्कारों के भाजपाई ठेकेदार हमेशा ख़ुद अमानवीय-अनैतिक धन्धों और घृणित अपराधों में लिप्त क्यों पाये जाते हैं?

– अरविन्द

संघ परिवार और भाजपा से जुड़े लोग अक्सर ही देश में प्राचीन संस्कृति, संस्कारों, शुचिता, देशभक्ति और राष्ट्रवाद की दुहाई देते नज़र आ जाते हैं। बहुत सारे लोग तब ताज्जुब में पड़ जाते हैं जब संघियों-भाजपाइयों को स्त्री उत्पीड़न, बलात्कार, घरेलू कामगारों को यातना देने, बच्चों की तस्करी, बन्धक बनाना, यौन शोषण और हत्या तक के तरह-तरह के अवैध-अनैतिक धन्धों में शामिल पाते हैं। वैसे तो तमाम दलों और संगठनों में नाना प्रकार के लोग पाये जा सकते हैं लेकिन भाजपा और संघ परिवार में अक्सर ही घिनौनेपन की पराकाष्ठा देखने को मिलती है। अतीत से लेकर वर्तमान तक में फ़ासीवादियों के दावों और हक़ीक़त में ज़मीन-आसमान का अन्तर पाया जाता रहा है। हिटलर और मुसोलिनी के प्यादे भी एक तरफ़ प्राचीन गौरव, राष्ट्रवाद, संस्कार और ईमानदारी की बात करते पाये जाते थे और दूसरी तरफ़ उनके हाथ हर प्रकार की गन्दगी से लिथड़े होते थे। तमाम तरह के फ़ासीवादियों का बस एक ही काम होता है शुचिता और संस्कारों की जुमलेबाज़ी कर अपनी गन्दगी छिपाना और बड़ी पूँजी की सेवा करना। भारतीय फ़ासीवादियों के "संस्कारी" चेहरे के पीछे की असलियत से इनकी जन्मकुण्डली की भी सही निशानदेही की जा सकती है। पिछले कुछ मामलों पर नज़र डालें तो यह साफ़ हो जाता है कि फ़ासीवादियों की कथनी और करनी में कितना फ़र्क़ हो सकता है।

– उत्तराखण्ड में अनैतिक काम नहीं करने पर भाजपा नेता विनोद आर्य का बेटा पुलकित आर्य उसके रिज़ॉर्ट की कर्मचारी युवती अंकिता की हत्या के आरोप में गिरफ़्तार। उसका रिज़ॉर्ट कई बड़े भाजपा नेताओं-मंत्रियों के लिए अय्याशी का अड्डा होने का आरोप।

(पेज 6 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

‘मट्टो की साइकिल’

(पेज 14 से आगे)

कोई विकल्प नहीं है। तो उसे यही कहा जा सकता है विकल्प कोई कलाकार भाषणबाज़ी करके पेश नहीं करता। उस रचना को पढ़ने के बाद पाठक के अवचेतन पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह महत्वपूर्ण बात है। प्रेमचन्द की रचना ‘कफ़न’ को पढ़ने वाला व्यक्ति घीसू और माधव जैसे किरदारों के निर्माण के लिए व्यवस्था को दोषी मानता है या ‘सद्गति’ कहानी पढ़ने के बाद पाठक के मन पर एक आक्रोश उत्पन्न होता है।

जर्मनी के सर्वहारा नाटककार व कलाकार बेर्टोल्ट ब्रेष्ट का दौर भी निराशा से भरा हुआ दौर था लेकिन उनकी रचनाओं में तत्कालीन निराशा के साथ पाठकों को आने वाले दिनों में आशा की बातें भी मिलती हैं। ब्रेष्ट एक सच्चे सर्वहारा यथार्थवादी कलाकार थे। मट्टो का चरित्र निराशा और पराजय के बोध से ग्रस्त होकर रुदन करने वाले व्यक्ति के रूप में पेश होता है क्योंकि उसे एक हमदर्दी-भरे लेकिन एक मध्यमवर्गीय कलाकार की नज़र से देखा गया है। मज़दूर साथी भी इस फ़िल्म को देखकर निराशाबोध से ग्रस्त हो सकते हैं। कई बार ऐसा प्रतीत होता है कि फ़िल्म यथास्थितिवाद पर चली जाती है। सर्वहारा यथार्थवाद के नज़रिए से यही कहा जा सकता है कि यह फ़िल्म वह दृष्टि नहीं देती जो किसी को मौजूदा हालात को बदलने या उसका विकल्प ढूँढ़ने के लिए उकसाये। निश्चित तौर पर, हम एक कलाकार की रचना से यह उम्मीद नहीं कर सकते कि वह विकल्प ही दे डाले। फिर तो वह राजनीतिक प्रचार की सामग्री बन जायेगी, कोई कलात्मक रचना रह ही नहीं जायेगी। लेकिन यदि कोई व्यक्ति इस फ़िल्म को देखकर बहुत अधिक सोचने पर विवश नहीं हो पाता और उसकी आत्मा विकल्प के लिए छटपटाती नहीं है और वह महज़ एक हमदर्दी-भरी आह ही निकाल पाता है, तो यह उस कलात्मक रचना की कमी और उसकी समस्या है। मसलन उसे यह लग सकता है कि काश मट्टो की पुलिस अधिकारी या प्रधान जी मदद करते तो अच्छा होता।

फ़िल्म कहीं से भी पूँजीवादी व्यवस्था की लूट के ऊपर सवाल नहीं उठाती है, हालाँकि उस लूट पर अप्रत्यक्ष इशारे ज़रूर मौजूद हैं। पूँजीवाद की पूँजीवादी नज़रिए या किसी क़िस्म के मध्यवर्गीय टुटपुँजिया नज़रिए से आलोचना करने से इस व्यवस्था को कोई ख़ास दिक़्क़त नहीं है। उल्टे इससे वर्तमान व्यवस्था को टिकाए रखने में मदद ही मिलती है। मट्टो की हालत को देखकर दया भावना या ‘कुछ भी नहीं बदल सकता’ जैसी भावना उत्पन्न हो सकती है। दुखी, निराश और परेशान होना एक बात है और पराजित होना दूसरी बात। पराजयबोध बेहद ख़तरनाक होता है क्योंकि यह सपनों की ज़मीन को बंजर कर देता है। निराशा, पराजयबोध और विकल्पहीनता से युक्त आलोचना या आह-कराह करना एक क्रान्तिकारी कला के लिए पर्याप्त नहीं है और ऐसी कला पर मौजूदा शासक वर्ग और उसकी सत्ता को कोई विशेष असुविधा भी नहीं होगी। इस मामले में यह फ़िल्म एक मायने में ख़तरनाक भी है। मज़दूर वर्ग को ऐसी फ़िल्मों के बारे में आलोचनात्मक नज़रिए से सोचने की ज़रूरत है। एक तरफ़ पराजित मानस पैदा करने वाली ऐसी फ़िल्में बनती है, तो दूसरी तरफ़ पूँजीवादी व्यक्तिवाद और नायकवाद पर आधारित झूठी आशा पैदा करने वाली ‘पुष्पा’, ‘केजीएफ़’, आदि जैसी फ़िल्में। ‘मज़दूर बिगुल’ के जुलाई अंक में ‘पुष्पा’-‘केजीएफ़’ सरीखी फ़िल्मों की समीक्षा करते हुए सुहास लिखते हैं कि –

“मज़दूर वर्ग को ऐसी फ़िल्मों की ज़रूरत है जो कि मौजूदा पूँजीवादी समाज में निहित शोषण, उत्पीड़न और दमन के पहलुओं को सच्चाई के साथ उजागर करें। समस्या को सही तरीक़े से पेश करने में उसके समाधान की सम्भावनाएँ भी छिपी होती हैं। यदि किसी अन्तरविरोध को सही तरीक़े से चित्रित किया जाये, सही तरीक़े से समझा जाये तो उसके समाधान की बात को उपदेश के समान पेश करने की कोई ज़रूरत नहीं होती है और न ही कला का यह काम होता है कि हर फ़िल्म के अन्त में क्रान्ति के रास्ते की रूपरेखा पेश कर दी जाये। वास्तव में, कला का पहला कार्य है यथार्थ का ईमानदार चित्रण करना, सही प्रातिनिधिक तथ्यों की पहचान करना जो कि यथार्थ के सारतत्व को पेश करते हों। मसलन, किसी एक मज़दूर का पूँजीपति बन जाना सम्भव है और यह समूचे सामाजिक यथार्थ का हिस्सा हो सकता है। लेकिन यह सामाजिक यथार्थ का कोई प्रातिनिधिक हिस्सा नहीं है। मसलन, कोई बच्चा एक हाथ में छह उँगलियों के साथ पैदा हो, तो यह सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता है कि मनुष्यों के एक हाथ में छह उँगलियाँ होती हैं!

“पूँजीवादी कला अप्रातिनिधिक यथार्थ के किसी एक पहलू को उठाकर उसका सामान्यीकरण करती है और फिर हमें विशेष प्रकार की चाहतें, आकांक्षाएँ और सपने पालने के लिए प्रशिक्षित करती है, जो कि पूँजीपति वर्ग के लिए फ़ायदेमन्द हो। सर्वहारा वर्ग की कला समूचे सामाजिक यथार्थ के सारतत्व को पकड़ती है क्योंकि वह उसके प्रातिनिधिक पहलुओं को पकड़ती है, उनका कलात्मक अमूर्तन और सामान्यीकरण करती है। इसलिए वह सच के साथ खड़ी होती है। इसीलिए वह अन्तरविरोधों को सही रूप में पेश कर सकती है। और इसीलिए उसे अन्त में क्रान्ति के बारे में उपदेश देने की कोई आवश्यकता नहीं होती है, बल्कि अन्तरविरोधों का उसका सही और सटीक चित्रण स्वतः ही हमें अन्ततः सही दिशा में सोचने के लिए प्रेरित करता है। वास्तव में कौन सही दिशा में सोचता है या सोच सकता है, यह उस व्यक्ति की वस्तुगत सामाजिक व राजनीतिक वर्गीय अवस्थिति पर भी निर्भर करता है। लेकिन निश्चित ही सर्वहारा कला यथार्थ के एक सटीक, ईमानदार और वैज्ञानिक चित्रण के ज़रिए समाज की प्रातिनिधिक सच्चाइयों और उसके अन्तरविरोधों को समझने में हमारी मदद करती है।”

अपने कारख़ाने, वर्कशॉप, दफ़्तर या बस्ती की समस्याओं के बारे में, अपने काम के हालात और जीवन की स्थितयों के बारे में हमें लिखकर भेजें। आप व्हॉट्सएप पर बोलकर भी हमें अपना मैसेज भेज सकते हैं। नम्बर है : 9721481546

“बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।” – **लेनिन**

‘मज़दूर बिगुल’ मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।
बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिए।

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं।
मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।
आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिए भी ‘मज़दूर बिगुल’ से जुड़ सकते हैं :
www.facebook.com/MazdoorBigul

‘मज़दूर बिगुल’ का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. ‘मज़दूर बिगुल’ व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. ‘मज़दूर बिगुल’ भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और ‘बिगुल’ देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. ‘मज़दूर बिगुल’ स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. ‘मज़दूर बिगुल’ मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर “कम्युनिस्टों” और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. ‘मज़दूर बिगुल’ मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत-से सदस्यों को ‘मज़दूर बिगुल’ नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको ‘मज़दूर बिगुल’ का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :
मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787, IFSC: PUNB0185400
पंजाब नेशनल बैंक, अलीगंज शाखा, लखनऊ
सदस्यता : वार्षिक : 125 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन : 3000 रुपये
मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :
फ़ोन : 0522-4108495, 9721481546
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 9721481546
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-90, फ़ोन: 9289498250
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति – 10/- रुपये वार्षिक – 125/- रुपये (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता – 3000/- रुपये

काम के अधिकार के लिए और भ्रष्टाचार के ख़िलाफ़ मनरेगा यूनियन का प्रदर्शन

20 सितम्बर। कलायत तहसील में क्रान्तिकारी मनरेगा मज़दूर यूनियन के बैनर तले चौशाला, रामगढ़, बाह्मणीवाल व अन्य गाँव के मज़दूरों ने विरोध प्रदर्शन किया। यूनियन की ओर एक प्रतिनिधि मण्डल ने एसडीएम सुशील कुमार को मनरेगा मज़दूरों की समस्या से अवगत करते हुए अपनी माँगों का ज्ञापन भी सौंपा। यूनियन प्रभारी रमन ने बताया कि कलायत ब्लॉक के बीडीपीओ कार्यालय में प्राशासनिक कार्यों की कोई जवाबदेही तय नहीं है। बीडीपीओ कार्यालय के पास मनरेगा योजना को सुचारू रुप से चलाने का भी उत्तरदायित्व है। मनरेगा एक्ट के तहत 100 दिन के रोज़गार की गारण्टी दी गयी है। लेकिन कलायत ब्लॉक के मज़दूर परिवारों को मुश्किल से 30-40 दिन ही काम मिल पाता है। मनरेगा क़ानून के तहत काम के आवेदन के 15 दिनों के भीतर अगर काम नहीं मिलता है, तो आवेदक मज़दूरों को बेरोज़गारी भत्ता देने का प्रावधान है। लेकिन कलायत के एबीपीओ व बीडीपीओ का साफ़ कहना है कि बेरोज़गारी भत्ता नहीं दिया जायेगा। यूँ तो भारतीय संविधान ने व सुप्रीम कोर्ट ने अनुच्छेद 21 के तहत जीवन के अधिकार में रोज़गार के अधिकार को भी शामिल किया गया है। लेकिन एबीपीओ व बीडीपीओ द्वारा मज़दूरों के इन मौलिक अधिकार को छीनने का प्रयास लगातार किया जा रहा है। साफ़ तौर पर रोज़गार गारण्टी के तहत काम न देना व बेरोज़गारी भत्ता न देना मज़दूरों के मौलिक अधिकारों का उल्लंघन है। साथ ही कलायत के मनरेगा कार्यालय में कर्मचारियों की बात की जाये तो पूरे माह में केवल 8 दिन ही कर्मचारी उपलब्ध होता है, जिसके कारण भी मनरेगा मज़दूरों को बहुत-सी दिक़्क़तों का सामना करना पड़ रहा है।

चौशाला गाँव की मीना ने बताया कि कलायत तहसील में मज़दूरों को साल में मुश्किल से 25-30 दिन ही काम मिलता है। यही आँकड़े पूरे हरियाणा और देश स्तर के हैं। हम जानते हैं कि मनरेगा एक्ट के तहत 100 दिन के काम की ज़िम्मेदारी राज्य और केन्द्र सरकार की बनती है। लेकिन मनरेगा कार्यालय में कर्मचारियों की कमी और सरकारों की मज़दूर-विरोधी नीतियों के कारण मनरेगा बजट का सदुपयोग नहीं हो रहा है। वहीं दूसरी तरफ़ काम के आवेदन के बावजूद भी मज़दूरों को काम नहीं मिल पा रहा है। साथ ही मेट मज़दूरों का भुगतान भी एक-एक साल बाद होता है, ऐसे में मेटों के परिवारों को आर्थिक समस्याओं से जूझना पड़ता है। इसलिए मेटों के लम्बित वेतन का भुगतान किया जाये व भविष्य में अन्य मज़दूरों के साथ ही मेट मज़दूरों का भुगतान किया जाये, यह माँग यूनियन द्वारा उठायी गयी।

यूनियन के साथी अजय ने बताया कि सरकार के अनुसार पूरे देश में लगभग 13 करोड़ मनरेगा मज़दूर पंजीकृत हैं। आज जहाँ इस संख्या बल को देखकर मनरेगा बजट में मोदी सरकार को बढ़ोत्तरी करनी चाहिए, वहीं उल्टे इस बार यानी वित्त वर्ष 2022-23 के लिए मनरेगा बजट को 73000 करोड़ रुपये रखा है जो बीते वित्त वर्ष के संशोधित बजट 98000 करोड़ रुपये से 25.5 फ़ीसदी कम है यानी सीधे तौर पर 25000 करोड़ रुपये की कटौती। अभी हाल के आँकड़ों के अनुसार हरियाणा सरकार द्वारा मनरेगा बजट का 100 प्रतिशत से ज़्यादा ख़र्च किया जा चुका है जबकि वित्तीय वर्ष में छह महीने शेष हैं।

जहाँ एक तरफ़ मोदी सरकार कॉर्पोरेट टैक्स में भारी छूट दे रही है वहीं दूसरी तरफ़ पीडीएस, रसोई गैस से लेकर शिक्षा, स्वास्थ्य में मिलने वाली सब्सिडी का बजट घटा रही है। इससे साफ़ तौर पर मज़दूरों पर महँगाई का बोझ बढ़ेगा। वैसे देखा जाये तो कोरोना महामारी की आपदा को अवसर में बदलने में भाजपा सरकार ने कोई कसर नहीं छोड़ी। इस दौरान मज़दूरों की जो दुर्गति हुई है इसका अन्दाज़ा शायद सरकार अपने पूरे कार्यकाल में कभी भी नहीं लगा पायेगी या वह लगाना ही नहीं चाहती है।

मनरेगा मज़दूरों के प्रदर्शन को समर्थन दे रही भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी (आरडब्ल्यूपीआई) के साथी प्रवीन ने कहा कि देश दुनिया की सारी वस्तुओं का निर्माण करने वाली मेहनतकश आबादी को वेतन-भत्ते की लड़ाई को सत्ता की लड़ाई तक पहुँचाना होगा। मज़दूरों को अपने आर्थिक हितों की लड़ाई भी अवश्य लड़नी होगी, लेकिन इस प्रक्रिया में यह समझना होगा कि उसकी आर्थिक समस्याओं के लिए समूची राजनीतिक व सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था यानी पूँजीवादी व्यवस्था ज़िम्मेदार है और इसलिए उसे अपनी आर्थिक लड़ाइयाँ भी राजनीतिक तरीक़े से लड़नी होंगी। इसके लिए सर्वहारा वर्ग को जनसमुदायों में राजनीतिक चेतना का विकास करना होगा, उनके बीच क्रान्तिकारियों के विचारों का प्रचार-प्रसार और राजनीतिक पाठशालाओं का आयोजन करना होगा। लेनिन के शब्दों में कहें तो यूनियन मज़दूरों की पहली पाठशाला होती है जहाँ एक मज़दूर, मज़दूर चेतना से सर्वहारा चेतना की तरफ़ पहला क़दम बढ़ाता है और अपनी वर्ग एकजुटता को अच्छे से समझता है।

क्रान्तिकारी मनरेगा मज़दूर यूनियन की माँगें :

1. विभाग द्वारा 16 दिवसीय काम का मस्टररोल निकाला जाये व मनरेगा का काम सुचारू रूप से चालू करवाया जाये।

2. सभी गाँव के मेटों के लम्बित भुगतान किये जायें।

3. नये जॉब कार्ड तय समयसीमा में बनाये जायें व ब्लॉक में तीन दिवसीय कैम्प लगाकर जॉब कार्ड की समस्याओं का समाधान किया जाये।

4. 15 दिन के अन्दर काम मुहैया न करवाने की सूरत में बेरोज़गारी भत्ते का भुगतान करना सुनिश्चित करें।

5. मनरेगा के बजट में बढ़ोत्तरी की जाये व मनरेगा मज़दूरों की दिहाड़ी 800 रुपये की जाये।

– आशु

गुड़गाँव के कापसहेड़ा से मज़दूरों की रिपोर्ट

अगर आप कभी गुड़गाँव में हैं तो शाम के 5 बजे के बाद गुड़गाँव के कापसहेड़ा में चले जाइए। 5 बजते ही आपको लोगों की एक बाढ़ दिखनी शुरू होगी। यह कोई मेला नहीं होगा और न ही कोई तमाशा! और ऐसा तो हर रोज़ होता है। लोगों की यह भीड़ रात के दस बजे तक दिखेगी। इस भीड़ में 13-14 साल से लेकर 65-70 की उम्र के लोग, पुरुष और महिलाएँ, सब दिख जायेंगे। सभी की वेश-भूषा भी कमोबेश एक जैसी ही दिखेगी। देखकर आश्चर्य होगा कि जिस सड़क पर दोपहर के समय बिल्कुल सन्नाटा पसरा होता है वहाँ अचानक इतने सारे लोग कहाँ से आ गये!

आपको बता दें, यह वह भीड़ है जो अपनी और अपने परिवार की ज़िन्दगी चलाने के लिए हर सुबह ऐसे ही आती है और फिर 10-12 घण्टे कमरतोड़ मेहनत करने के बाद वापस लौटती है। इन 4-5 घण्टों में आपको लाखों-लाख मज़दूर दिख जायेंगे। गुड़गाँव जैसे शहर में भी इन सभी की औसतन कमाई बमुश्किल 8-12 हज़ार की होती है। कापसहेड़ा के इस इलाक़े में सैकड़ों की संख्या में फ़ैक्टरियाँ और कॉल सेण्टर हैं, जिनमें ये मज़दूर काम करते हैं। यहाँ मुख्यतः गारमेण्ट सेक्टर की फ़ैक्टरियाँ हैं, पर साथ में कई सारे ऑटोमोबाइल और दूसरे कारख़ाने भी मौजूद हैं।

अगर अभी की बात करें तो साल के इस समय यहाँ काम सापेक्षिक रूप से ठण्डा पड़ जाता है और इसलिए अभी कई कम्पनियों ने कई मज़दूरों को ब्रेक दे दिया है, यानी फ़िलहाल कई कम्पनियों ने एक महीने की बिना पैसे की छुट्टी दे दी है। वापस आने पर कोई गारण्टी नहीं होती कि फिर से उन्हें काम पर रख ही लिया जायेगा। दशहरा-दिवाली में लगभग हर साल ऐसा ही होता है। कारण यह कि कम्पनियों को इस समय काम करने वाले मज़दूरों को बोनस देना होता है, जिससे बचने के लिए भी वो इन्हें काम से पहले ही ब्रेक दे देते हैं।

कुल मिलाकर अभी स्थिति यह है कि मज़दूरों को कई कम्पनियों में नियमित प्रकृति के काम पर दिहाड़ी पर रखना शुरू कर दिया है। अब ठेके की अवधि धीरे-धीरे घटायी जा रही है। पहले जहाँ 11 महीने के लिए मज़दूरों को काम पर रखा जाता था, अब 7 महीने के लिए ही कॉण्ट्रैक्ट पर रखा जाता है (यह बात अलग है कि काम की कोई गारण्टी तब भी नहीं थी और अब भी नहीं है)। आज स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी है कि कारख़ानों में कई मज़दूरों को 40-60 रुपये घण्टे के हिसाब से रखा जाने लगा है! कई बार तो काम पूरा होने पर तयशुदा पैसा भी नहीं मिलता है। पर इन सभी मुद्दों पर कहीं कोई सुनवाई नहीं है। दोबारा काम ढूँढ़ना भी आसान नहीं होता है। कई जगह तो कम से कम 10-12 घण्टे की शिफ़्ट होती है। बहुतेरी कम्पनियों में रविवार को भी छुट्टी नहीं मिलती है। वहीं दूसरी तरफ़ कई कम्पनियों में ब्रेक कब मिल जायेगा कोई पता नहीं होता है। ऐसे में नियमित वेतन और रोज़गार की कोई गारण्टी नहीं है।

यह तब हो रहा है जब अभी नये श्रम क़ानून लागू नहीं हुए हैं। ऐसे भी हरियाणा सरकार तो हमेशा से मज़दूरों के ख़िलाफ़ क़ानून बनाने में और शोषण को लचीला बनाने में एक क़दम आगे ही रही है। साथ में मज़दूरों को बाँटने के लिए धर्म और जाति के नाम पर फ़ैक्टरियों में भी अलग-अलग उपाय लगाये जा रहे हैं। फ़ैक्टरियों में मज़दूरों को राम-राम कहने को बोला जाता है, नहीं बोलने पर अलग-अलग ढंग से नज़र रखी जाती है। हिन्दु त्योहार होने पर रैलियाँ निकाली जाती हैं और जान-बूझकर उन्माद फैलाया जाता है।

यह हालत आज लगभग पूरे देश में है। इससे निजात पाने के लिया सर्वहारा वर्ग को मौजूदा फ़ासीवादी निज़ाम के ख़िलाफ़ व्यापक मेहनतकश जनसमुदायों के क्रान्तिकारी जनान्दोलनों को संगठित करना होगा। किसी एक फ़ैक्टरी के बूते आज कोई भी संघर्ष खड़ा करना नामुमकिन है, इसलिए एक सेक्टर के तमाम मज़दूरों को एक यूनियन के तहत संगठित करना होगा। इन बड़े धन्नासेठों के ख़िलाफ़ सेक्टरगत और इलाक़ाई यूनियन बनाकर ही अपनी माँगों के लिए संघर्ष किया जा सकता है।

– बिगुल संवाददाता

गुड़गाँव के एक मज़दूर के साथ साक्षात्कार

– आदित्य

आज पूरे देश की लगभग आधी से ज़्यादा आबादी या तो बेरोज़गार है या हर रोज़ काम करके ही अपना गुज़ारा कर पाती है। गुड़गाँव एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ अलग-अलग सेक्टर में काम करने वाले ऐसे लाखों मज़दूर रहते हैं। इनमें मुख्यतः ऑटोमोबाइल और गारमेण्ट सेक्टर के मज़दूर शामिल हैं। पर इतनी संख्या में होने के बावजूद आज यह आबादी सबसे बदतर ज़िन्दगी जीने के लिए मजबूर है।

इस रिपोर्ट में एक ऐसे ही मज़दूर से बात की गयी है जो पिछले 11 सालों से गुड़गाँव में काम कर रहा है और उसने लगभग सभी तरह की फ़ैक्टरियों में काम किया है। आइए जानते हैं गुड़गाँव के एक मज़दूर की कहानी उसी की ज़ुबानी!

सवाल : *पहले तो आप अपने बारे में बताइए। आप कब से गुड़गाँव में हैं और क्या काम करते हैं?*

जवाब : *हम उत्तर प्रदेश के इलाहबाद के रहने वाले हैं और गुड़गाँव में 2010 से रह रहे हैं। हम अभी उद्योग विहार के एक्सपोर्ट हाउस में काम करते हैं जिसमें मेरा काम कटिंग का है।*

सवाल : *आप लगभग 12 सालों से गुड़गाँव में हैं, तो इस दौरान आपने कहाँ-कहाँ और क्या-क्या काम किया है?*

जवाब : *2010 से 2013 तक कुल 23 कम्पनियों में हमने काम किया था। जहाँ एक महीना, डेढ़ महीना, दो महीना ऐसे करके अपने ख़र्चे के लिए काम किया। क्योंकि हम एक पढ़े-लिखे मध्यम वर्ग से आते थे, तो हमारे लायक़ काम हमें मिला नहीं, जबकि यह होना चाहिए कि मेहनत और शिक्षा के हिसाब से रोज़गार मिलना चाहिए। एक्सपोर्ट लाइन में काम करते हुए जिस तरह की भाषा का इस्तेमाल किया जा रहा था हमारे साथ वह भी हमें रास नहीं आ रहा था। फिर एक जगह हमें एक-दो लोग ऐसे मिल गये जिनका व्यवहार अच्छा लगा तो 15 महीने वहाँ काम किया। हमसे इस दौरान ट्रौली धक्का देने से लेकर सामान ढोने का काम भी करवाया गया। फिर हमारी एक परीक्षा थी जिसके लिए हमें छुट्टी नहीं दी गयी, फिर भी हम परीक्षा देने चले गये। जब वापस आये तो हमें ब्रेक दे दिया गया। इसके बाद हमने एक ऑटोमोबाइल कम्पनी जय ऑटो कम्पनी में डेढ़-दो महीने काम किया। वहाँ बहुत ही मुश्किल काम था। 12 घण्टे की शिफ़्ट होती थी, उसमें भी नाइट ड्यूटी लगा दी जाती थी।*

सवाल : *क्या काम था वहाँ?*

जवाब : *वहाँ पर माल को उठाकर चलती हुई असेम्बली लाइन पर रखना होता था। वहाँ पर माल कभी कम नहीं होना चाहिए था। यहाँ पर काम छोड़ने के बाद फिर एक्सपोर्ट लाइन में ही एक जगह काम मिला जहाँ काम सिखाया गया। वहाँ हमने सैम्पलिंग और कटिंग का काम सीखा।*

सवाल : *अच्छा, तो आपने बताया कि एक जगह आपको परीक्षा देने के कारण काम छोड़ना पड़ा, तो क्या आप काम करने के साथ-साथ पढाई भी कर रहे थे और कहाँ तक आपने पढ़ाई की है?*

जवाब : *जी, हम तो लगातार काम करने के साथ अपना पढ़ने का समय भी निकालते थे और लगातार परीक्षाएँ दे रहे थे। हमने इण्टर तक तो पूरा क्लास किया है, फिर ग्रेजुएशन में कुछ दिन क्लास किया और फिर एमए तक लाइब्रेरी से किताबें लेकर पढ़ते थे। बाद में हमने आईटीआई भी किया। जब हमारी सैलरी 3900 थी तब भी हम 500 का फ़ॉर्म भरते थे। कई बार तो ओवरटाइम करके हम फ़ॉर्म का पैसा निकालते थे। हम तीन भाई हैं, हम तीनों हमेशा फ़ॉर्म भरते थे, बहुत पैसा हमने इसमें बहाया है, पर आज तक हममें से किसी की भी नौकरी नहीं लगी। हमने तो 2019 तक परीक्षाएँ दी हैं। 2019 के बाद दोबारा बीजेपी की सरकार आने के बाद तो वैकेंसी आनी ही बन्द हो गयी। फिर हमने फ़ॉर्म भरना ही छोड़ दिया।*

सवाल : *अभी कुल मिला के मज़दूरों की क्या हालत है, फ़ैक्टरियों की क्या हालत है, इसके बारे में बताइए।*

जवाब : *अभी मज़दूरों की स्थिति यही है कि वो 9-10 हज़ार की नौकरी कर रहे हैं। इसमें पूरा गुज़ारा हो नहीं पाता। मजबूरी में उनके अन्दर ओवरटाइम करने की बहुत ही ज़्यादा लालसा है। लेकिन इसमें कम्पनी को अगर ज़रूरत होती है तो ज़बर्दस्ती आपको रोककर काम करवाती है, पर अगर आपको ज़रूरत है कि आप ओवरटाइम करके कुछ कमा लें तो यह आपके हाथ में नहीं है। यहाँ तक कि कम्पनियों को ज़रूरत नहीं होने पर ब्रेक भी दे दिया जाता है। कई जगह जहाँ ब्रेक नहीं दिया जाता, मज़दूर स्थायी हैं या नियमित रूप से काम कर रहे हैं, वहाँ उनसे धमकाकर काम कराया जाता है। इंचार्ज हों, मैनेजर हों या सुपरवाइज़र सब इसमें शामिल होते हैं। कई बार बाथरूम तक जाने पर पाबन्दी लगा दी जाती है, या कभी 5 मिनट भी लेट हो गया तो उन्हें काम से निकालने की धमकी दे दी जाती है। यह स्थिति उस जगह की है जो हेड ब्रांच है कम्पनी का। जहाँ उसी कम्पनी का मालिक भी बैठता है। तो जहाँ पर सिर्फ़ प्रोडक्शन लाइन है वहाँ पर क्या स्थिति होगी आप सोच सकते हैं। 12-14 घण्टे की ड्यूटी के दौरान उन्हें 5 मिनट आपस में बैठकर बात करने का समय भी नहीं दिया जाता।*

सवाल : *कई बार यह भी सुनने को मिलता है कि मज़दूरों को वहाँ आपस में जाति-धर्म के नाम पर बाँटने का भी काम किया जाता है, तो इसपर क्या स्थिति है?*

जवाब : *हाँ, कम्पनियों में ज़्यादातर सुपरवाइज़र वैसे लोग को ही रखा जाता है जो सत्ता पक्ष के होते हैं। और अगर उन्हें पता चल जाये कि कुछ लोग ऐसी मानवतावादी बातें कर रहे हैं या मुस्लिम धर्म का है तो उनपर विशेष नज़र रखी जाती है और लोगों को भी उनके ख़िलाफ़ उकसाया जाता है। दूसरा, हमारी कम्पनी में मिलने पर राम-राम बोलने को कहा जाता है। अगर आप राम-राम नहीं बोल रहे हैं तो आप विपक्ष में हैं। ऐसी स्थिति में आप पर अलग से नज़र रखी जाती है, आपको काट दिया जाता है और ऐसी स्थिती पैदा कर दी जाती है कि आप घुटन महसूस करने लगेंगे। इस तरह से बर्ताव किया जाता है कि यह छोटी जाति का है या दूसरे धर्म का है इसलिए राम-राम नहीं कर रहा है। यहाँ तक कि यदि आप बाथरूम भी जाते हैं तो चापलूसों को पीछे भेज दिया जाता है यह देखने के लिए कि वह कुछ और कारण से तो नहीं गया!*

सवाल : *आपके अनुसार मज़दूरों की यह हालत होने का क्या कारण है और मज़दूरों को क्या करना चाहिए?*

जवाब : *इसका एक मुख्य कारण यह है कि मज़दूर आज बिखरे हुए हैं। मज़दूरों को जागरूक करने के लिए मज़दूरों तक पहुँच नहीं पा रही है जानकारी! किसी चीज़ को हम पढ़ या सुन रहे हैं तो हम तर्क कर रहे हैं कि यह सही है या ग़लत। मतलब कि आज सभी लोगों को तर्क के माध्यम से हमें जोड़ना चाहिए।*

यह एक मज़दूर की कहानी है, जबकि ऐसे और हज़ारों-लाखों-करोड़ों मज़दूर आज सिर्फ़ गुड़गाँव ही नहीं देश के तमाम इलाक़ों में काम कर रहे हैं। इनमें कई ऐसे हैं जिन्होंने उच्च शिक्षा भी ली है, पर काम नहीं मिलने के कारण मजबूरन मज़दूरी कर रहे हैं। बाक़ी ऐसे मज़दूरों की संख्या तो करोड़ों में है जो ख़राब शिक्षा व्यवस्था के कारण दसवीं-बारहवीं या उससे भी पहले पढाई छोड़ने को मजबूर हो गये। मतलब साफ़ है, समस्या इस व्यवस्था में है, पूँजीवादी व्यवस्था में! अतः एक ऐसे समतामूलक समाज की स्थापना किये बग़ैर इस भेद और इस शोषण को नहीं मिटाया जा सकता।

कविता कृष्णन : सर्वहारा वर्ग की नयी ग़द्दार

(पेज 8 से आगे)

वर्गयुद्ध होती है। इस नंगी सच्चाई से मुँह मोड़ने वाला व्यक्ति ही क्रान्तिकारी हिंसा से व्यथित होकर निरपेक्ष रूप में हिंसा का विरोध करेगा।

जहाँ तक यूक्रेन में अकाल की वजह से लाखों लोगों की मौतों की बात है तो इस सन्दर्भ में लूडो मार्टेन्स ने यह दिखाया है कि अनाज की कमी ज़रूर हुई थी, परन्तु अकाल की कहानी पूरी तरह मनगढ़न्त है जिसके पीछे हिटलर की प्रचार मशीनरी और विलियम हर्स्ट का अमेरिका में क़ायम किया गया 'पीत पत्रकारिता' का साम्राज्य था।

दावा नम्बर 5 : 'ग्लोबल लेफ़्ट' (?!!) जारी यूक्रेन युद्ध में रूसी साम्राज्यवाद की तरफ़दारी कर रहा है

यूक्रेन में रूस के साम्राज्यवादी हमले के बाद से जारी युद्ध के सन्दर्भ में कविता कृष्णन दुनियाभर के वामपन्थियों को पानी पी-पीकर कोस रही है कि वे रूस की तरफ़दारी कर रहे हैं और यूक्रेन की जनता का साथ नहीं दे रहे हैं। अपने झूठ को प्रामाणिक बनाने के लिए वह 'ग्लोबल लेफ़्ट' जैसे शब्द का इस्तेमाल करती है, मानो ऐसा कोई एकाश्मी समुदाय मौजूद हो। यह सच है कि कुछ कम्युनिस्ट पार्टियों (ख़ासकर संशोधनवादी पार्टियों) और तथाकथित वाम बुद्धिजीवियों ने रूसी हमले के लिए रूस को पर्याप्त रूप से ज़िम्मेदार नहीं ठहराया है और वे अपना मुख्य निशाना अमेरिकी साम्राज्यवाद को बना रहे हैं। परन्तु यह भी सच है कि अधिकांश संजीदा कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ग्रुपों-संगठनों व पार्टियों ने यूक्रेन में जारी युद्ध के लिए अमेरिकी साम्राज्यवाद के साथ ही साथ रूसी साम्राज्यवाद को भी कठघरे में खड़ा किया है और इस युद्ध को दो साम्राज्यवादी शिविरों के बीच जारी होड़ का नतीजा बताया है। परन्तु शायद कविता कृष्णन ग्लोबल पैमाने पर अमेरिकी साम्राज्यवाद के चहेते वामपन्थी चेहरे के रूप में स्थापित होने के सपने देख रही है! यह एक वजह हो सकती है कि वह रूसी व चीनी साम्राज्यवाद पर तो ख़ूब बोलती है परन्तु अमेरिकी साम्राज्यवाद की कारगुज़ारियों पर बेशर्मी से पर्दा डालती है।

कविता कृष्णन का लिबरल (बुर्जुआ) जनवाद के प्रति प्रेम का इज़हार और लिबरल ख़ेमे में ख़ुशी की लहर!

कविता कृष्णन ने पार्टी छोड़ने के निर्णय के 3 कारणों में से एक कारण लिबरल (पढ़ें बुर्जुआ) जनवाद की रक्षा करना बताया है। लिबरल जनवाद के प्रति उसके उमड़े इस अपार प्रेम से तमाम लिबरल, वाम-लिबरल और लिबरल-वामी कविता कृष्णन को बधाइयाँ दे रहे हैं। जब वह पार्टी के भीतर थी तब भी उसकी क़रीबी इसी ख़ेमे से थी, लेकिन आज उसने पूरी तरह से इस ख़ेमे में शामिल होने का मन बना लिया है। इसीलिए हर घाघ संशोधनवादी की ही तरह वह 'जनवाद' शब्द का इस्तेमाल बिना 'सर्वहारा' या 'पूँजीवादी' विशेषण के साथ करती है और फ़ासीवाद के बरक्स उसे बचाने की क़समें खाती है। ऐसे में यह ताज्जुब की बात नहीं है कि अपूर्वानन्द और अशोक कुमार पाण्डेय जैसे घोर कम्युनिस्ट-विरोधी पतित लेखक-बुद्धिजीवी उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे हैं।

हाल ही में एक इण्टरव्यू में कविता कृष्णन ने बताया कि माओवादी चीन के बारे में अभी उसका अध्ययन नहीं है। इसलिए चीन पर हमला करते समय वह बड़ी ही चालाकी से मौजूदा चीन की मौजूदा संशोधनवादी राज्यसत्ता के निरंकुश चरित्र का हवाला देते हुए मार्क्सवाद पर हमले करती है। कहने की ज़रूरत नहीं कि माओकालीन चीन के बारे में जानने के लिए भी वह एडगर स्नो, विलियम हण्टन और स्टुअर्ट श्रैम जैसे प्रामाणिक लेखकों की किताब पढ़ने की बजाय अमेरिकी साम्राज्यवादी स्रोतों पर ही निर्भर रहने वाली है। ख़ैर, ऐसी बौद्धिक बौनी व्यक्ति से उम्मीद ही क्या की जा सकती है जो 'आइटम सांग्स' को स्त्री मुक्ति के रास्ते के तौर पर देखती हो और 'सरकाय लो खटिया' जैसे गीतों को स्त्री यौनिकता की अभिव्यक्ति मानती हो। ऐसी व्यक्ति भाकपा (माले) लिबरेशन जैसे पतित संशोधनवादी संगठन में ही इतने वर्षों तक रह सकती थी और अब अगर वह प्रतिक्रियावादी ख़ेमे में खड़ी होकर मार्क्सवाद और सर्वहारा वर्ग को कलंकित करने का प्रयास कर रही है, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अस्मितावाद, एनजीओ राजनीति और साम्राज्यवाद की बौद्धिक दलाली करने का रास्ता कविता कृष्णन ने अपने लिए खोल लिया है और वही रास्ता ऐसी पतित तत्व के लिए उपयुक्त भी है। सर्वहारा वर्ग के पास ऐसे तत्वों के लिए घृणा के अलावा और कुछ नहीं हो सकता है।

तेलंगाना में निज़ाम की सत्ता के पतन की 75वीं बरसी पर जश्न मनाने की होड़ में भाजपा और टीआरएस ने की इतिहास के साथ बदसलूकी

दोनों पार्टियों ने तेलंगाना सशस्त्र किसान विद्रोह और भारतीय राज्यसत्ता द्वारा उसे कुचलने की सच्चाई पर पर्दा डाला

– आनन्द

गत 17 सितम्बर को तेलंगाना में निज़ाम की सत्ता के पतन की 75वीं बरसी के मौक़े पर हैदराबाद शहर में भाजपा और टीआरएस के बीच जश्न मनाने की बेशर्म होड़ देखने में आयी। पूरा शहर दोनों पार्टियों के पोस्टरों व बैनरों से पाट दिया गया था। शहर में दोनों पार्टियों द्वारा कई स्थानों पर रैलियाँ निकाली गयीं और जनता की हाड़तोड़ मेहनत से कमाये गये करोड़ों रुपये पानी की तरह बहाये गये। भाजपा व केन्द्र सरकार ने इस दिन को 'हैदराबाद मुक्ति दिवस' के रूप में मनाया, जबकि टीआरएस व तेलंगाना सरकार ने इसे 'राष्ट्रीय एकता दिवस' के रूप में मनाया। ग़ौरतलब है कि भाजपा पिछले कई सालों से 17 सितम्बर को 'हैदराबाद मुक्ति दिवस' के रूप में मनाने की मुहिम चलाती आयी थी। चूँकि अगले साल तेलंगाना में विधानसभा के चुनाव होने वाले हैं, इसलिए इस साल इस दिन सभी पार्टियों ने अपनी-अपनी राजनीतिक रोटियाँ सेंकेने का कोई मौक़ा नहीं छोड़ा। लेकिन किसी भी चुनावी पार्टी ने पूर्व हैदराबाद राज्य में निज़ाम की क्रूर सामन्ती सत्ता के पतन की मुख्य वजह यानी तेलंगाना किसान सशस्त्र संघर्ष का ज़िक्र नहीं किया और किसी भी नेता ने उस बहादुराना संघर्ष को कुचलने में नवोदित भारतीय बुर्जुआ राज्यसत्ता और उसकी सेना की भूमिका का कोई उल्लेख नहीं किया।

जहाँ तक भाजपा की बात है, हर मुद्दे की तरह इस मुद्दे में भी उसको हिन्दू-मुस्लिम कोण दिख गया। केन्द्रीय गृहमंत्री अमित शाह ने हैदराबाद में 17 सितम्बर की रैली को सम्बोधित करते हुए निज़ाम और रज़ाकारों पर हमले करते हुए बड़ी ही चालाकी से निज़ाम की सत्ता को मुस्लिम सत्ता के रूप में पेश किया जो हिन्दू प्रजा पर ज़ुल्म ढा रही थी। जबकि सच तो यह है कि तत्कालीन हैदराबाद रियासत (जिसमें वर्तमान तेलंगाना के अतिरिक्त कर्नाटक व महाराष्ट्र के भी कुछ हिस्से शामिल थे) में निज़ाम की सामन्ती सत्ता में शोषण के स्तम्भ गाँवों में जागीरदार, देशमुख व भूस्वामी थे जो अधिकांशत: रेड्डी व वेलमा जैसी उच्च हिन्दू जातियों से आते थे। ऐसे में निज़ाम की सत्ता को महज़ मुस्लिम सत्ता कहना इतिहास के साथ जानबूझकर किया गया अत्याचार है जिसे अंजाम देने में संघ परिवार के फ़ासिस्ट लीडरान माहिर हैं। साथ ही इतिहास का तथ्य यह भी है कि तेलंगाना किसान विद्रोह के भागीदारों में तमाम मुस्लिम किसान, मज़दूर व दस्तकार शामिल थे और नेतृत्व में भी मक़दूम मोहिउद्दीन जैसे मुस्लिम पृष्ठभूमि से आने वाले तमाम लोग भी शामिल थे।

तेलंगाना में संघ परिवार व भाजपा को पैर पसारते देख टीआरएस के अध्यक्ष व तेलंगाना के मुख्यमंत्री के. चन्द्रशेखर राव (केसीआर) असुरक्षा महसूस करने लगे हैं क्योंकि उन्हें कुर्सी छिनने का भय सताने लगा है। यही वजह है कि इन दिनों वे भाजपा के ख़िलाफ़ उग्र बयान भी दे रहे हैं। जब केन्द्र सरकार व भाजपा ने इस बार 17 सितम्बर को 'तेलंगाना मुक्ति दिवस' मनाने की घोषणा तो केसीआर ने भाजपा के इस दाँव का जवाब उससे भी बड़ा आयोजन, 'राष्ट्रीय एकता दिवस', करने का ऐलान करके दिया। इस प्रकार 17 सितम्बर के दिन हैदराबाद में भाजपा और टीआरएस के बीच बेशर्मी-भरी होड़ देखने में आयी। हालाँकि उस दिन केसीआर ने अपने भाषण में तेलंगाना किसान सशस्त्र संघर्ष से जुड़े कुछ नामों जैसे चाकलि ऐलम्मा, दोड्डी कोमैय्या, मक़दूम मोहिउद्दीन का ज़िक्र किया, लेकिन किसानों के बहादुराना विद्रोह की सच्चाई को झुठलाने की कोशिश और इस तथ्य को भी दबा दिया कि उस सशस्त्र संघर्ष को कुचलने के लिए भारतीय सेना की टुकड़ियाँ तेलंगाना के गाँवों की ओर भेजी गयी थीं।

पूर्व हैदराबाद रियासत में निज़ाम की निरंकुश सामन्ती सत्ता के पतन में तेलंगाना सशस्त्र किसान संघर्ष की भूमिका

ग़ौरतलब है कि 1940 के दशक की शुरुआत में हैदराबाद के निज़ाम की सामन्ती रियासत में आने वाले तेलंगाना के जागीरदारों और भूस्वामियों द्वारा किसानों, कारीगरों और मज़दूरों के ज़बर्दस्त शोषण व उत्पीड़न के विरुद्ध शुरू हुआ आन्दोलन 1946 की गर्मियों तक आते-आते सामन्तों के ख़िलाफ़ एक सशस्त्र विद्रोह में तब्दील हो गया था। किसानों, कारीगरों और मज़दूरों के इस संघर्ष का नेतृत्व आन्ध्र महासभा और भारत की कम्युनिस्ट पार्टी कर रही थी। आन्ध्र महासभा की शुरुआत निज़ाम की निरंकुश सत्ता से कुछ नागरिक अधिकारों व प्रशासनिक सुधारों की माँग से सम्बन्धित प्रस्ताव पास करने वाले और आवेदन करने वाले के साथ एक सुधारवादी संगठन के रूप में 1928 में हुई थी, परन्तु 1940 के दशक की शुरुआत में उसमें कम्युनिस्टों के प्रवेश के बाद उसका चरित्र ज़्यादा से ज़्यादा जुझारू होता गया। 1944 के बाद आन्ध्र महासभा में कम्युनिस्टों का पूर्ण वर्चस्व स्थापित हो गया। आन्ध्र महासभा में कम्युनिस्टों की मौजूदगी की वजह से यह संगठन गाँव-गाँव तक फैल गया और वेट्टी (बेगार) के ख़ात्मे, काश्तकारों की बेदख़ली ख़त्म करने, जोती जा रही ज़मीन पर पट्टे के अधिकार, जागीरदारी के ख़ात्मे, करों व लगान में भारी कटौती, खेतों के अनिवार्य सर्वेक्षण जैसी जुझारू माँगें उठाने लगा। गाँवों में लोग आन्ध्र महासभा की इकाई को प्यार से संघम कहा करते थे।

तेलंगाना किसान विद्रोह की फैलती आग से घबराकर निज़ाम ने इस आन्दोलन को बलपूर्वक कुचलने की ठानी और विद्रोह से प्रभावित गाँवों में सशस्त्र बलों की टुकड़ियाँ जाने लगीं। जब ये टुकड़ियाँ गाँवों में जातीं तो किसानों और मज़दूरों का नेतृत्व छिप जाता और टुकड़ियों के वापस लौटते ही वह फिर गाँवों में आ जाता। यहाँ तक कि लोग अदालत के आदेश को भी मानने से इन्कार करने लगे। इसके बाद निज़ाम की फ़ौज गाँवों में ही कैम्प लगाकर रहने लगी और दिन-रात विद्रोही नेताओं की खोजबीन करने लगी। इससे बचने के लिए पुरुष गाँव से दूर खेतों में रात बिताने लगे और फ़ौजियों से बचने के लिए महिलाएँ एकसाथ समूह में सोने लगीं।

निज़ाम की सत्ता द्वारा तेलंगाना के किसानों और मज़दूरों के विद्रोहों का बलपूर्वक दमन करने की तमाम कोशिशों के बावजूद विद्रोह लगातार नये इलाक़ों में फैलता गया। इसी बीच 15 अगस्त 1947 को भारत आज़ाद हुआ और तमाम राजे-रजवाड़ों को यह विकल्प दिया गया कि वे या तो भारत में शामिल हों या पाकिस्तान में शामिल हों या फिर स्वतंत्र रहने का फ़ैसला करें। हैदराबाद के निज़ाम ने स्वतंत्र रहने का फ़ैसला किया और आज़ाद हैदराबाद बनाने का ऐलान किया। ऐसी परिस्थिति में कांग्रेस पार्टी निज़ाम पर भारत में शामिल होने का दबाव डालने के लिए सत्याग्रह शुरू करने के लिए मजबूर हुई। इस नयी परिस्थिति का लाभ उठाते हुए कम्युनिस्ट पार्टी और आन्ध्र महासभा के लोग भी निज़ाम-विरोधी आन्दोलन में शामिल होकर उसका आधार विस्तारित करने लगे। निज़ाम ने इस आन्दोलन को कुचलने के लिए अपनी फ़ौज के अतिरिक्त अपने पालतू इस्लामिक कट्टरपन्थी संगठन मजलिस-ए-इत्तेहाद-उल-मुस्लीमान (जो आज़ादी के बाद अपना रूप बदलकर आज भी ऑल इण्डिया मजलिस-ए-इत्तेहाद-उल-मुस्लिमीन के नाम से तेलंगाना व कुछ अन्य राज्यों में सक्रिय है) की सेना का इस्तेमाल करने की योजना बनायी। क़ासिम रिज़वी के नेतृत्व में रज़ाकारों की इस निजी सेना ने निज़ाम की फ़ौज के साथ मिलकर तेलंगाना के गाँवों में आतंक का राज क़ायम कर दिया। रज़ाकारों ने बड़े पैमाने पर लूटपाट, हत्या, बलात्कार और यंत्रणा का सहारा लिया। उनके आतंक के ख़ौफ़ से कांग्रेस सहित तमाम बुर्जुआ संगठनों के लोगों और धनिक आबादी को हैदराबाद की रियासत से बाहर अन्य प्रान्तों में पनाह लेनी पड़ी।

तेलंगाना में रज़ाकारों का सामना केवल कम्युनिस्ट और आन्ध्र महासभा के लोग कर रहे थे। कम्युनिस्ट पार्टी ने निज़ाम की सामन्ती सत्ता के ख़िलाफ़ फ़ैसलाकुन विद्रोह का ऐलान किया और गाँवों में लोगों से किसी भी प्रकार के ज़बरिया श्रम और अवैध वसूली से इन्कार करने का आह्वान किया। इसके अलावा सरकार और बड़े भूस्वामियों की फ़ाज़िल ज़मीन और अनाज के भण्डारों पर क़ब्ज़ा करके गाँव के ग़रीबों में बाँट दिया गया।

स्वतंत्र भारत की बुर्जुआ राज्यसत्ता ने हैदराबाद के निज़ाम की सत्ता के ख़िलाफ़ एक साल से भी ज़्यादा समय तक कोई कार्रवाई नहीं की। इस दौरान निज़ाम से बातचीत और सौदेबाज़ी चलती रही। नवम्बर 1947 में भारत सरकार ने निज़ाम के साथ 'स्टैण्ड-स्टिल' समझौता कर लिया जिसके तहत हैदराबाद रियासत के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप नहीं करने का आश्वासन दिया गया तथा तेलंगाना से भारतीय सेना को हटाकर निज़ाम की सेना और रज़ाकारों को किसान विद्रोह को कुचलने की पूरी छूट दे दी गयी। ग़ौरतलब है कि यह छूट और किसी ने नहीं बल्कि तथाकथित लौहपुरुष पटेल ने दी थी।

निज़ाम की सेना और रज़ाकारों से निपटने के लिए गाँवों में गुरिल्ला दस्ते (दलम) बनाये गये जिनमें दो हज़ार से दस हज़ार तक लोग शामिल हुए

(पेज 6 पर जारी)

तेलंगाना किसान संघर्ष की कुछ तस्वीरें

शुचिता और संस्कारों के भाजपाई ठेकेदार हमेशा ख़ुद अमानवीय-अनैतिक धन्धों और घृणित अपराधों में लिप्त क्यों पाये जाते हैं?

(पेज 1 से आगे)

– झारखण्ड के रांची से भाजपा नेत्री और महिला विंग की राष्ट्रीय कार्यसमिति की सदस्या सीमा पात्रा ने अपनी नौकरानी को आठ साल तक बन्धक बनाया, उसके दांत तोड़े और जीभ से मल-मूत्र तक चटवाया!

– मेघालय का भाजपा राज्य उपाध्यक्ष बर्नार्ड मराक छोटे बच्चों और महिलाओं को बन्धक बनाकर वेश्यालय चलाने में संलग्न पाया गया।

– छत्तीसगढ़, राजनांदगाँव में शराब तस्करी के आरोप में भाजपा नेता जयराम दुबे गिरफ़्तार।

– पश्चिमी बंगाल, जलपाईगुड़ी में बाल तस्करी के आरोप में भाजपा नेत्री जूही चौधरी गिरफ़्तार की गयी और मामले में भाजपा के नेताओं कैलाश विजयवर्गीय और रूपा गांगुली के नाम भी जुड़े।

– उत्तरप्रदेश में भाजपा विधायक कुलदीप सिंह सेंगर बलात्कार और हत्या के मामले में दोषी क़रार।

– राजस्थान में आरएसएस प्रचारक निम्बाराम पर 20 करोड़ के सीडी घूसकाण्ड के लिए भ्रष्टाचार दस्ते ने किया मुक़दमा दर्ज।

– हैदराबाद, मालेगाँव, समझौता ट्रेन विस्फोट मामलों में आरएसएस नेताओं का हाथ होना पाया गया। गुजरात, दिल्ली, उत्तरप्रदेश से लेकर देश के विभिन्न इलाक़ों में हुए साम्प्रदायिक दंगों में संघ परिवार की स्पष्ट भूमिका रही है।

– कर्नाटक, बीजापुर में श्री राम सेने नाम के दक्षिणपन्थी समूह के लोगों ने दंगे भड़काने की नीयत से सरकारी इमारत पर पाकिस्तान का झण्डा फहराया।

– कर्नाटक विधानसभा में भाजपा के तीन विधायक अश्लील वीडियो देखते पाये गये, सदस्यता रद्द हुई लेकिन बाद में येदुरप्पा सरकार में उप-मुख्यमंत्री बनाया गया।

ये तो चन्द ही उदाहरण हैं जिनमें भाजपा व संघ के कारकूनों की सच्चाई से पर्दा उठाया गया है। यदि इनके एक-एक कारनामे का कच्चा-चिट्ठा खोला जाये तो एक बड़ा पुराण भी लिखा जा सकता है। भला ऐसा क्यों होता है कि "संस्कार" और "प्राचीन भारतीय हिन्दू संस्कृति" के ढिंढोरची ही कुसंस्कारों की गटरगंगा में सबसे अधिक गोते लगाते पाये जाते हैं? असल बात यह है कि फ़ासीवाद के मूल में ही पर्देदारी की प्रवृत्ति निहित होती है। इसका काम ही पूँजीवाद के असल अन्तरविरोधों को छुपाकर नक़ली अन्तरविरोध खड़ा करना होता है। जनता की असली समस्याओं से उसका ध्यान भटकाकर उसे प्रतिक्रिया की दिशा में धकेलना होता है। फिर भला अपने भ्रष्टाचार और चरित्र की गन्दगी को संघी संस्कारों के चोग़े तले छुपाते हैं तो उसमें विस्मय कैसा?!

संघ परिवार के लोगों की चिकनी-चुपड़ी बातों पर यक़ीन करके इनके संस्कारों और शुचिता का भरोसा कोई मूर्ख ही कर सकता है। संघी-भाजपाइयों के चरित्र में उतने ही संस्कार होते हैं जितनी सावरकर के चरित्र में वीरता थी। असल में संस्कारों का इनका सारा ढिंढोरा इनके चरित्र और आत्मा पर पड़े बदनुमा दाग़ों को छिपाने के लिए होता है। हर प्रकार के फ़ासीवादियों का बस एक ही काम होता है और वह होता है जनता को शुचिता और संस्कार का पाठ पढ़ाते हुए उसे फ़र्ज़ी मुद्दों के आधार पर बाँटकर आपस में लड़ाना और अपने पूँजीपति आक़ाओं की तहे दिल से सेवा करना। इटली, जर्मनी ही नहीं बल्कि भारत के वर्तमान दौर से भी यह स्पष्ट हो जाता है।

आज एक तरफ़ प्रधानमंत्री की 'न खाऊँगा न खाने दूँगा' की जुमलेबाज़ी चलती रहती है लेकिन दूसरी तरफ़ देश के कच्चे माल, संसाधनों और श्रमशक्ति को देशी-विदेशी पूँजीपति डकार रहे हैं। चोर-लुटेरे जनता की गाढ़ी कमाई के हज़ारों करोड़ रुपये लेकर विदेशों में चम्पत हो जा रहे हैं और सरकार लकीर पीटती रह जाती है। संघी-भाजपाई दोनों हाथों से माल लूट रहे हैं और प्रधानमंत्री मोदी के द्वारा जनता को कर्तव्यपरायणता का पाठ पढ़ाया जा रहा है। जनता को त्याग और बलिदान की शिक्षा दी जा रही है जबकि देश का पूँजीपति वर्ग और नेताशाही जोंक की तरह जनता का ख़ून चूसने में लगे हुए हैं।

फ़ासीवाद और इसकी राजनीति एक आधुनिक पूँजीवादी परिघटना है। फ़ासीवादी विचार और संगठन तो पूँजीवाद के हर दौर में मौजूद रह सकते हैं किन्तु फ़ासीवाद सत्ता तक तभी पहुँचता है जब पूँजीवादी व्यवस्था संकट में घिरी होती है और टुटपुँजिया वर्ग को गुमराह करके उसका एक प्रतिक्रियावादी आन्दोलन खड़ा किया जाता है। फ़ासीवाद निम्न मध्यमवर्ग का एक प्रतिक्रियावादी आन्दोलन होता है जिसका नेतृत्व फ़ासीवादी विचारधारा से लैस तमाम तरह के रुग्णमना व्यक्तित्व करते हैं। मरणासन्न पूँजीवाद की गन्दगी पर पनपने वाला फ़ासीवाद आज हमारे समाज को बर्बरता और रुग्णता की ओर धकेल रहा है। फ़ासीवादियों के नारों-जुमलों और असल हक़ीक़त में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ होता है। जनता को इनके फ़र्ज़ी दावों और जुमलों के झाँसे में आने की बजाय इनकी असलियत को पहचानना चाहिए और इन्हें बेपर्द करना चाहिए।

तेलंगाना में निज़ाम की सत्ता के पतन की 75वीं बरसी पर जश्न मनाने की होड़ में भाजपा और टीआरएस ने की इतिहास के साथ बदसलूकी

और जिनको राइफ़ल, रिवॉल्वर आदि चलाने का बाक़ायदा प्रशिक्षण दिया जाता था। इनकी मदद से क़रीब तीन हज़ार गाँवों में ग्राम राज्य कमेटियों की स्थापना की गयी जो भूमि वितरण, शिक्षा, स्वास्थ्य व अन्य ग्रामीण सेवाओं की निगरानी करती थी। इन ग्राम राज्य कमेटियों के ज़रिए तेलंगाना के 3 हज़ार गाँवों में क़रीब दस लाख एकड़ की ज़मीन और खेती-बाड़ी के उपकरण तथा मवेशी ग़रीबों में बाँटे गये। खेत मज़दूरों की मज़दूरी बढ़ायी गयी। इस पूरे संघर्ष के दौरान जात-पात के बन्धनों को भी तोड़ने की पहल की गयी और छुआछूत जैसी प्रथाओं पर लगाम लगी। ग्राम राज्य कमेटियों में महिलाओं की भी पूरी भागीदारी होती थी। ये कमेटियाँ लोगों के पारिवारिक व विवाह तथा तलाक़ सम्बन्धी विवादों का निपटारा भी करती थीं। इस संघर्ष के विराट स्वरूप का अन्दाज़ा इसी से लगाया जा सकता है कि इसके दौरान तेलंगाना के 16 हज़ार वर्ग कि.मी. के क्षेत्र में 3 हज़ार गाँवों में रहने वाली क़रीब 30 लाख की आबादी ने सामन्ती भूस्वामियों को उनके महलनुमा घरों (गडी) से शहरों की ओर खदेड़कर ख़ुद को क्रान्तिकारी ग्राम राज्यों में संगठित कर लिया था। इस संघर्ष का केन्द्र तेलंगाना के नालगोण्डा, वारंगल और खम्मम ज़िलों में था, हालाँकि तेलंगाना के कई अन्य ज़िले भी इसकी चपेट में आ चुके थे।

'ऑपरेशन पोलो' और मुस्लिम-विरोधी हिंसा

इस प्रकार भारतीय यूनियन के सम्मुख निज़ाम के आत्मसमर्पण से पहले ही तेलंगाना के किसानों, कारीगरों और मज़दूरों के विद्रोह ने निज़ाम की निरंकुश सामन्ती सत्ता को जड़ से हिला दिया था। ऐसी परिस्थिति में निज़ाम की सत्ता का औपचारिक पतन अब समय की ही बात रह गयी थी। 13 सितम्बर 1948 को भारतीय सेना ने 'ऑपरेशन पोलो' के तहत हैदराबाद पर आक्रमण कर दिया और अपनी हार तय देखते हुए निज़ाम ने महज़ 4 दिन बाद 17 सितम्बर 1948 को आत्मसमर्पण कर दिया। ग़ौरतलब है कि भारत सरकार ने सेना की इस कार्रवाई का असली मक़सद छिपाने के लिए इसे सैन्य कार्रवाई की बजाय 'पुलिस कार्रवाई' का नाम दिया। इस दौरान हैदराबाद शहर सहित हैदराबाद रियासत के कई हिस्सों में मुस्लिम इलाक़ों में भीषण क़त्ले-आम, लूटपाट व बलात्कार की घटनाएँ हुईं। 1948 में ही नेहरू सरकार द्वारा गठित सुन्दरलाल कमेटी ने ऑपरेशन पोलो के दौरान हुई इन वारदातों में मरने वालों की संख्या 27 हज़ार से 40 हज़ार तक बतायी। कुछ अन्य स्रोत मरने वालों की संख्या इससे भी ज़्यादा बताते हैं। हिंसा की इन वारदातों में हिन्दू महासभा जैसे हिन्दूवादी संगठन शामिल थे। सुन्दरलाल कमेटी की रिपोर्ट में इस तथ्य का भी उल्लेख मिलता है कि कई स्थानों पर भारतीय सेना के जवानों ने भी बढ़चढ़कर मुस्लिम-विरोधी हिंसा में भागीदारी की और हिंसक भीड़ पर कार्रवाई करने की बजाय उल्टे उसे हिंसा के लिए उकसाया। सुन्दरलाल कमेटी की रिपोर्ट में यह भी उल्लेख किया गया था कि तेलंगाना के जिन 3 ज़िलों में किसान विद्रोह अपने चरम पर था वहाँ मुस्लिम-विरोधी साम्प्रदायिक हिंसा की कोई वारदात नहीं हुई थी। लेकिन भारतीय सेना की भूमिका पर पर्दा डालने के लिए नेहरू सरकार ने सुन्दरलाल कमेटी की रिपोर्ट को सार्वजनिक नहीं किया। यह रिपोर्ट 2013 में जाकर सार्वजनिक हुई, लेकिन अभी भी बहुत कम लोग इस भीषण हिंसा के बारे में जानते हैं।

आत्मसमर्पण के बाद निज़ाम के साथ भारतीय राज्यसत्ता के दोस्ताना सम्बन्ध

भारत के बुर्जुआ वर्ग के समझौतावादी चरित्र के ही अनुरूप उसके प्रतिनिधियों ने निज़ाम के आत्मसमर्पण के बाद उसके विशेषाधिकारों व प्रिवी पर्स को सुरक्षित रखने का पूरा आश्वासन दिया। भारत के संविधान में निज़ाम को राजप्रमुख का दर्जा तक दिया गया। निज़ाम के किसी भी अधिकारी को कोई सज़ा नहीं दी गयी। रज़ाकारों के मुखिया क़ासिम रिज़वी तक को भी उतनी सख़्त सज़ा नहीं दी गयी जिसका वह हक़दार था, बल्कि उसे पाकिस्तान जाने दिया गया। 17 सितम्बर 1948 को हैदराबाद रियासत के प्रशासन की बागडोर भारतीय सेना के हाथ में आ गयी। लेकिन उसके बाद भी 25 जनवरी 1950 तक सरकार के सभी आदेश (फ़रमान) निज़ाम के नाम से जारी किये जाते रहे। यहाँ तक कि 26 जनवरी 1950 में अस्तित्व में आये भारतीय संविधान में निज़ाम के राजप्रमुख के पद को मान्यता प्रदान करने का प्रावधान भी जोड़ा गया और 1956 तक निज़ाम राजप्रमुख बना रहा। यही नहीं निज़ाम को प्रिवीपर्स भी मिलता रहा। निज़ाम के साथ भारतीय राज्य के इस दोस्ताना बर्ताव से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि हैदराबाद में भारतीय सेना की सैन्य कार्रवाई का असली उद्देश्य निज़ामशाही का ख़ात्मा नहीं बल्कि तेलंगाना किसान विद्रोह को कुचलना था।

हैदराबाद के विलय के बाद भारतीय सेना द्वारा किसान विद्रोह को बेरहमी से कुचला जाना

हैदराबाद के भारत में विलय के दो सप्ताह के भीतर ही भारतीय सेना अपने असली उद्देश्य यानी तेलंगाना के गाँवों में जारी किसान विद्रोह को कुचलने में जुट गयी। क़रीब 50 हज़ार भारतीय सैनिकों ने तेलंगाना के गाँवों की ओर कूच कर दिया। सेना ने तेलंगाना में बड़े पैमाने पर गिरफ़्तारियाँ, यंत्रणा, आगजनी और निर्मम हत्याओं को अंजाम देते हुए निज़ाम की सेना व रज़ाकारों द्वारा किये गये ज़ुल्मों को भी मात दे दी। मलाया सरकार की ब्रिग्स योजना की ही तरह ऐसे गाँव बसाये गये जहाँ के निवासियों को सेना के नियंत्रण में रहना था। जंगलों की दो हज़ार आदिवासी बस्तियों को नेस्तनाबूद कर दिया गया और लोगों को यातना शिविरों में रखा गया। छापामार गाँवों को छोड़कर निकटवर्ती जंगलों में चले गये और वहाँ भी सेना का दबाव बढ़ने पर दूरवर्ती जंगली क्षेत्रों में बिखर गये। पूरे तेलंगाना संघर्ष के दौरान क़रीब 4 हज़ार कम्युनिस्ट व किसान-कारीगर-मज़दूर शहीद हुए एवं लगभग 10 हज़ार लोगों को डिटेन्शन कैम्पों में यंत्रणा देने के लिए भेजा गया।

उपरोक्त तथ्यों की रोशन में यह आसानी से समझा जा सकता है कि मेहनतकश आबादी के लिए 17 सितम्बर के दिन न तो 'मुक्ति दिवस' का जश्न मनाने का तुक बनता है और न ही 'एकता दिवस' का। वास्तव में यह दिन ग़रीब किसानों, कारीगरों व मज़दूरों के बहादुराना संघर्ष को याद करने का और उनके साथ भारतीय राज्यसत्ता द्वारा किये गये ऐतिहासिक विश्वासघात को याद करने का दिन है।

कविता कृष्णन : भाकपा (माले) लिबरेशन जैसी पतिततम संशोधनवादी पार्टी में परवरिश और कम्युनिज़्म-विरोधी अमेरिकी साम्राज्यवादी दुष्प्रचार की बौद्धिक ख़ुराक से तैयार हुई सर्वहारा वर्ग की नयी ग़द्दार

– आनन्द

वैसे तो संशोधनवादी पार्टियों के सभी नेता सर्वहारा वर्ग के साथ ग़द्दारी करने का ही काम करते हैं, लेकिन कविता कृष्णन सीपीआई (एमएल) लिबरेशन से अलग होने के बाद से कम्युनिज़्म व मज़दूर वर्ग के महान शिक्षकों पर जिस क़दर खुले रूप में हमले कर रही है उससे यह स्पष्ट है कि उसकी ग़द्दारी अपने चरम पर जा पहुँची है। लेकिन उसे ग़द्दारी के इस मुक़ाम तक पहुँचाने में उसकी पार्टी का बहुत बड़ा हाथ है क्योंकि पार्टी ने ही वह पूँजीवादी उदारवादी माहौल बनाया जिसमें कविता कृष्णन जैसी ग़द्दार पार्टी में क़रीब तीन दशकों तक रही और केन्द्रीय कमेटी और पोलित ब्यूरो तक में लगभग एक दशक तक बनी रही।

ग़ौरतलब है कि कृष्णन के बाहर निकलने पर पार्टी ने अफ़सोस जताया और उनके इतने लम्बे साथ व सक्रिय भूमिका की सराहना व सम्मान किया। कोई भी क्रान्तिकारी सर्वहारा पार्टी ग़द्दारों को बाहर करके या उनसे पीछा छुड़ाकर अफ़सोस नहीं जताती बल्कि ख़ुशी और तसल्ली का इज़हार करती है। कुछ मायनों में देश की इस सबसे पतित संशोधनवादी पार्टी की असलियत इसी से ज़ाहिर हो जाती है कि कविता कृष्णन जैसे बेशर्म ग़द्दार द्वारा कम्युनिज़्म और क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग की गौरवशाली विरासत पर कीचड़ उछालने के बावजूद उसके प्रति उसकी 'सराहना' व 'सम्मान' में कोई कमी नहीं आयी! यही नहीं जब सोशल मीडिया पर तमाम लोग कृष्णन की ग़द्दारी की पोल खोल रहे थे तो यह पार्टी उसके बचाव में उतरती है और उसकी आलोचना करने वालों को ट्रोल की संज्ञा देकर उनकी भर्त्सना करती है! वैसे कविता कृष्णन जैसे बेशर्म ग़द्दार का खुलकर सामने आना कोई ताज्जुब की बात नहीं है। जिस प्रकार सीपीआई जैसी मरियल संशोधनवादी पार्टी कन्हैया कुमार जैसा विदूषक ही पैदा कर सकती थी उसी प्रकार 'लिबरेशन' जैसी काँइयाँ संशोधनवादी पार्टी से कविता कृष्णन जैसी कुटिल ग़द्दार पैदा करने की ही उम्मीद थी। ग़ौरतलब है कि इस पार्टी ने आज तक कृष्णन के झूठों का कोई जवाब नहीं दिया है, उसने बस यह दोस्ताना शिकायत की है कि अभी तो फ़ासीवाद से लड़ने (चुनावी गठबन्धन के ज़रिए!) का समय है, न कि इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ने का! हम मज़दूरों को केवल इतने से ही भाकपा (माले) लिबरेशन का असली चरित्र समझ जाना चाहिए। लेकिन फिर भी कविता कृष्णन नामक इस मज़दूर वर्ग की ग़द्दार के कम्युनिज़्म और मज़दूर वर्ग पर किये जा रहे हमलों की तथ्यों और प्रमाणों समेत सच्चाई जान लेते हैं।

कविता कृष्णन द्वारा फेंका जा रहा कीचड़ अमेरिकी साम्राज्यवादी दुष्प्रचार के मल-मूत्र से बना है

कविता कृष्णन का कहना है कि हाल के वर्षों में उसने गहन अध्ययन किया है (!) जिसके बाद वह इस नतीजे पर पहुँची है कि सोवियत यूनियन और चीन की सर्वहारा सत्ताओं की गिनती दुनिया की सबसे क्रूर सर्वसत्तावादी सत्ताओं में की जानी चाहिए जो आज भी दुनियाभर में निरंकुश सत्ताओं के लिए मॉडल का काम करती हैं। लेकिन उसके दावों पर सरसरी निगाह डालने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि उसे ये सड़ी और झूठी बौद्धिक ख़ुराक अमेरिकी साम्राज्यवादी दुष्प्रचार के विराट तंत्र से मिलती है। सोवियत यूनियन व स्तालिन के बारे में आज वह जो कुछ भी बक रही है वह अमेरिकी साम्राज्यवादी दुष्प्रचार तंत्र शीत-युद्ध के दौर से ही लगातार प्रसारित करता आया है। इन काल्पनिक झूठों की रचना में ट्रॉत्स्की व ख्रुश्चेव जैसे सर्वहारा वर्ग के ग़द्दारों की करतूतों के अलावा रॉबर्ट कांक्वेस्ट, सोल्झेनित्सिन व रॉय मेदवेदेव जैसे साम्राज्यवादी भोंपुओं ने भी अहम भूमिका निभायी है।

समकालीन दौर की बात करें तो कविता कृष्णन के दावों के मुख्य स्रोत टिमोथी श्नाइडर जैसे सेलिब्रिटी इतिहासकार व ऐन ऐपलबॉम तथा टॉम निकोल्स जैसे रूढ़िवादी प्रतिक्रियावादी लेखक हैं जिन्होंने अफ़ग़ानिस्तान, इराक़ और लीबिया पर अमेरिकी साम्राज्यवादी हमलों की पैरोकारी की थी। कविता कृष्णन निहायत ही बेशर्मी के साथ इन साम्राज्यवादी भोंपुओं के ट्वीट अपने ट्विटर प्रोफ़ाइल से नियमित रूप से ट्वीट करती है। 'लिबरेशन' से अलग होने के फ़ैसले को सार्वजनिक करने से एक दिन पहले ही इस ग़द्दार ने सर्वहारा वर्ग के एक अन्य ग़द्दार गोर्बाचोव को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए और उसकी शान में क़सीदे गढ़ते हुए ऐपलबॉम व निकोल्स के लेख साझा किये थे! वह गोर्बाचोव जो कि सोवियत यूनियन में मज़दूर वर्ग से ग़द्दारी करने वाले तमाम संशोधनवादियों की आख़िरी कड़ी था और बेहद घिनौना व्यक्ति था।

टिमोथी श्नाइडर की बात करें तो उसे कोई संजीदा बुर्जुआ इतिहासकार भी गम्भीरता से नहीं लेता और 2010 में प्रकाशित उसकी किताब 'ब्लडलैण्ड : यूरोप बिटवीन हिटलर एण्ड स्तालिन' में किये गये हास्यास्पद दावों व झूठ के पुलिन्दों का पर्दाफ़ाश अमेरिकी इतिहासकार ग्रोवर फ़र ने अपनी किताब 'ब्लड लाइज़' में बख़ूबी किया है। कविता कृष्णन की फ़ेसबुक वाल पर अगर कोई श्नाइडर, ऐपलबॉम या निकोल्स जैसे अमेरिकी साम्राज्यवादी भोंपुओं की असलियत उजागर करता है तो उसके पास कोई जवाब नहीं रहता है और यहाँ तक कि वह ऐसे लोगों को ब्लॉक करने की धमकी भी देती है। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि वह अब सचेतन रूप से ग़द्दारी पर ही नहीं बल्कि बेशर्म क़िस्म की बेईमानी और ढीठता पर उतारू हो चुकी है।

भारत में कविता कृष्णन के प्रेरणा-स्रोत बालगोपाल जैसे मानवाधिकार कर्मी व बुद्धिजीवी हैं जो कभी माओवादियों के शुभचिन्तक हुआ करते थे, लेकिन बाद के दिनों में उनका मार्क्सवाद से ही मोहभंग हो चुका था और हर प्रकार की हिंसा की निरपेक्ष रूप से आलोचना करने के साथ ही वे ऐसे बचकाने व हास्यास्पद दावे करने लगे थे कि मार्क्सवाद की सबसे बड़ी कमी यह है कि वह मानव स्वभाव को नहीं समझ पाता है! इतना मूर्खतापूर्ण और अवैज्ञानिक दावा करने के लिए पर्याप्त रूप से मूर्ख होने की आवश्यकता है। मानव स्वभाव कोई प्राकृतिक चीज़ नहीं होता है और मार्क्सवाद दिखलाता है कि मानव स्वभाव समाज की प्रकृति और चरित्र से स्वतंत्र रूप में कुछ भी नहीं हो सकता है। एक वर्गीय समाज में आम तौर पर वर्गीय प्रवृत्ति और स्वभाव की ही बात की जा सकती है। सिवाय खाने-पीने और मल-मूत्र का त्याग करने के प्राकृतिक स्वभाव या 'इंस्टिंक्ट' के अलावा इन्सान का बच्चा और कुछ भी लेकर नहीं पैदा होता। अन्य सभी मूल्य और विचार उसमें समाज में परवरिश के दौरान ही बनते हैं, जिस समाज की (आदिम क़बीलाई समाज को छोड़कर) सबसे बड़ी सच्चाई यह होती है कि वह वर्गों में बँटा होता है। यह मूर्ख व्यक्ति बालगोपाल इस समय इस दूसरी मूर्ख और ग़द्दार कविता कृष्णन का प्रकाश स्तम्भ बन गया है, तो इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं है। समान पंख वाले पंछी एक दूसरे को ढूँढ़ ही लेते हैं।

अब आइए देखते हैं कि मूर्खतापूर्ण ग़द्दारी की बेख़याली में कविता कृष्णन ने क्या दावे किये हैं और उनकी सच्चाई क्या है।

कविता कृष्णन के दावों की पड़ताल

'मार्क्सवाद पर कीचड़ उछालो' मुहिम के तहत कविता कृष्णन की रणनीति स्तालिन काल में सोवियत यूनियन में हुई ज़्यादतियों से सम्बन्धित अमेरिकी साम्राज्यवादी झूठों को रट्टू तोते की तरह दोहराने के साथ ही साथ निहायत ही शातिराना ढंग से वर्तमान चीन को साम्यवादी बताते हुए उसके सामाजिक फ़ासीवादी व साम्राज्यवादी कुकृत्यों को कम्युनिज़्म के मत्थे मढ़ने की है। यही नहीं वह टिमोथी श्नाइडर के हथकण्डे का इस्तेमाल करते हुए हास्यास्पद ढंग से मौजूदा यूक्रेन युद्ध की वजह से यूरोप में पैदा हुई परिस्थिति का सादृश्य-निरूपण द्वितीय विश्व युद्ध की परिस्थिति से करती है और पुतिन व स्तालिन को एक ही श्रेणी में रखती है ताकि पुतिन की कारगुज़ारियों की आड़ में समूचे कम्युनिज़्म को बदनाम किया जा सके। इस प्रक्रिया में वह "साम्राज्यवाद" और "फ़ासीवाद" जैसे शब्दों को निहायत ही चलताऊ ढंग से इस्तेमाल करती है जो उसकी मूर्खता और मार्क्सवाद की बुनियादी अवधारणाओं के प्रति उसकी अनभिज्ञता को दर्शाता है।

वैसे तो कविता कृष्णन जो दावे कर रही है उनमें से अधिकांश का जवाब तमाम मार्क्सवादियों और लूडो मार्टेन्स, ग्रोवर फ़र, मारियो सूसा जैसे लेखकों-इतिहासकारों ने बहुत पहले ही दे दिया है, लेकिन चूँकि झूठ के इन पुलिन्दों का असर सोवियत संघ के इतिहास से अनजान तमाम असजग व असावधान लेकिन ज़हीन लोगों पर होता है इसलिए उनका बिन्दुवार जवाब देना ज़रूरी है।

दावा नम्बर 1 : 'स्तालिन के नेतृत्व में सोवियत यूनियन में एक सर्वसत्तावादी राज्य मौजूद था'

स्तालिनकालीन सोवियत राज्य को हिटलरकालीन जर्मनी जैसा सर्वसत्तावादी बताने और स्तालिन की तुलना हिटलर से करने का हथकण्डा शीतयुद्ध के समय से ही अमेरिकी साम्राज्यवाद अपनाता आया है। इसकी शुरुआत अमेरिकी साम्राज्यवाद की बौद्धिक एजेण्ट हाना आरेण्ट ने की थी। सर्वसत्तावाद की शब्दावली ही उसने रची थी और कहा था कि एक ओर पूँजीवादी जनवाद है और दूसरी तरफ़ सर्वसत्तावाद है, जिसके दो संस्करण हैं : फ़ासीवाद और कम्युनिज़्म। तबसे इस बकवास को नोम चॉम्स्की जैसे अराजकतावादियों समेत कविता कृष्णन सरीखे सर्वहारा वर्ग के ग़द्दार दुहराये जा रहे हैं, यह समझे बिना कि पूँजीवादी जनवाद वास्तव में पूँजीपति वर्ग की तानाशाही का ही दूसरा नाम है और सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व सर्वहारा जनवाद यानी अधिकतम सम्भव बड़ी मेहनतकश जनता के लिए जनवाद और लूटने वाले मालिकों, व्यापारियों, ठेकेदारों, बिचौलियों, धनी कुलकों व फ़ार्मरों के लिए तानाशाही का ही दूसरा नाम है। संक्षेप में, पूँजीवादी जनवाद यानी अल्पसंख्या के लिए जनवाद और बहुसंख्या के लिए तानाशाही है जबकि सर्वहारा अधिनायकत्व या सर्वहारा जनवाद बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी के लिए सर्वाधिक आज़ादी और जनवाद तथा लुटेरी अल्पसंख्या के लिए तानाशाही है।

हिटलर व स्तालिन को सर्वसत्तावादी क़रार देने वाली इस नक़ली और झूठी समतुल्यता के हथकण्डे से अमेरिकी साम्राज्यवाद और उसकी फेंकी हड्डियों पर पलने वाले बौद्धिक दलाल और क़लमघसीट एक साथ दो शिकार करने का प्रयास करते हैं। एक तरफ़ हिटलर की तानाशाही के पूँजीवादी तानाशाही का उग्रतम बर्बरतम रूप होने की सच्चाई पर पर्दा डालते हुए पूँजीवाद को बचा लिया जाता है वहीं दूसरी ओर सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को एक व्यक्ति की तानाशाही के रूप में प्रस्तुत करके समाजवाद के बारे में विभ्रम फैलाया जाता है।

सच तो यह है कि स्तालिन के नेतृत्व में सोवियत यूनियन ने तीन दशक के भीतर जो अप्रतिम सामाजिक-आर्थिक उपलब्धियाँ अर्जित कीं वे किसी एक व्यक्ति की तानाशाही में पूरी नहीं की जा सकती थीं। यह बात पूरी तरह से झूठ है कि सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी के सभी निर्णय स्तालिन के इशारे पर लिये जाते थे। सच तो यह है कि उस दौरान पार्टी के भीतर विभिन्न मुद्दों पर फ़ैसले बहस-मुबाहसे और वोटिंग के ज़रिए लिये जाते थे, मसलन एक देश के भीतर समाजवाद का मसला और सामूहिकीकरण का मसला। ऐसे तमाम मुद्दों पर बहुमत द्वारा फ़ैसला होने के बाद भी जो लोग पार्टी के भीतर गुटबाज़ी करके बहुमत के ख़िलाफ़ जाते हुए और यहाँ तक कि तोड़फोड़ की गतिविधियों में संलग्न पाये गये उन्हें पार्टी से निकाला भी गया और उनमें से कईयों को ग़लती मान लेने के बाद पार्टी में वापस भी लिया गया, मिसाल के लिए ज़िनोवियेव, कामेनेव, एवोद्किमोव, प्रियोब्राजिंस्की और रादेक आदि। इस प्रकार पार्टी एक व्यक्ति के इशारे पर चलने वाली कोई एकाश्मी पार्टी नहीं थी।

यह भी सच है कि बोल्शेविक पार्टी के भीतर नौकरशाहाना प्रवृत्तियाँ बड़े पैमाने पर मौजूद थीं और

(पेज 8 पर जारी)

कविता कृष्णन : सर्वहारा वर्ग की नयी ग़द्दार

(पेज 7 से आगे)

चापलूसी करने का चलन भी था। लेकिन ऐसे अनेक लिखित प्रमाण हैं जो यह दिखाते हैं कि स्तालिन ऐसी प्रवृत्तियों व आदतों को बढ़ावा देने की बजाय उनके ख़िलाफ़ संघर्ष छेड़ने का आह्वान किया करते थे और पार्टी के भीतर जनवाद को बढ़ावा देने पर बहुत अधिक ज़ोर दिया करते थे। मिसाल के लिए यंग कम्युनिस्ट लीग की आठवीं कांग्रेस के सामने 16 मई, 1928 को दिये गये भाषण 'नीचे से आलोचना संगठित करो' में स्तालिन कहते हैं, "कम्युनिस्ट नौकरशाह सबसे ख़तरनाक क़िस्म का नौकरशाह होता है। क्यों? क्योंकि वह अपनी नौकरशाही को पार्टी सदस्यता के कार्ड के नीचे छिपा लेता है। और, दुर्भाग्य से, ऐसे कम्युनिस्ट नौकरशाह हमारी क़तारों में बड़ी संख्या में हैं।"... "इस तरह पार्टी का तात्कालिक काम यह बनता है कि : नौकरशाही के ख़िलाफ़ तीखा संघर्ष करना, नीचे से लोगों द्वारा आलोचना को संगठित करना, और इस आलोचना को पहचानते हुए और इसकी रोशनी में हमारी कमियों-कमज़ोरियों को दूर करने के लिए व्यावहारिक फ़ैसले लेना।" यह बात दीगर है कि नौकरशाही पर लगाम कसने के अपने संघर्ष में स्तालिन पूरी तरह सफल नहीं हुए। यह भी समझना ज़रूरी है कि समाजवादी समाज कम्युनिस्ट समाज और पूँजीवादी समाज के बीच एक लम्बी संक्रमण की अवधि है जिस समय बुर्जुआ वर्ग और सर्वहारा वर्ग के बीच संघर्ष नये और बेहद जटिल रूपों में जारी रहता है, समाज में मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम का अन्तर अभी ख़त्म नहीं हुआ होता है और पूँजीवादी विशेषाधिकारों की सोच भी समाज में अभी मौजूद होती है। विचारधारा और संस्कृति के धरातल पर निजी सम्पत्ति के ख़त्म हो जाने मात्र से बुर्जुआ विचारों का प्रभाव समाप्त नहीं हो जाता है। इसलिए नौकरशाही को स्तालिन या उनसे पहले लेनिन कोई क़ानून पारित करके नहीं समाप्त कर सकते थे। सवाल उसके ख़िलाफ़ लगातार संघर्ष चलाने का था और सवाल लगातार राजनीतिक वर्ग संघर्ष को चलाने का था। स्तालिन ने लाक्षणिक तौर पर यह संघर्ष चलाया हालाँकि सैद्धान्तिक तौर पर और सुसंगत तौर पर वे इस संघर्ष को नहीं चला सके। लेकिन जहाँ तक स्तालिन या सोवियत पार्टी के तानाशाह या सर्वसत्तावादी होने का प्रश्न है, तो यह साम्राज्यवादी मीडिया का थोथा कुत्साप्रचार ही है और कुछ नहीं। जिसने भी सोवियत यूनियन के संजीदा इतिहास लेखन को पढ़ा है, बाज़ारू पत्रकारों के लेखन को नहीं, वह यह जानता है।

इसी प्रकार स्तालिन ने पार्टी के अलावा समाज में भी जनवाद को बढ़ावा देने के लिए संघर्ष किया। मिसाल के लिए 1936 का संविधान तैयार करते समय उन्होंने सोवियतों के सदस्यों के लिए प्रत्यक्ष चुनाव करवाने, कम्युनिस्ट पार्टी के उम्मीदवारों के अलावा दूसरे शहरी ग्रुपों द्वारा उम्मीदवार खड़े करने की आज्ञा होने, चुनाव-प्रचार और सार्वजनिक सभाओं में लोगों को उम्मीदवारों और पार्टी के व्यक्तियों से सवाल-जवाब करने और चुनावों के लिए गुप्त मतदान होने के पक्ष में दृढ़ स्टैण्ड लिया। यह भी स्तालिन तब कर रहे थे जबकि देश के भीतर बाहर से जारी तमाम क़िस्म के षड्यंत्रों और फिर द्वितीय विश्वयुद्ध ने स्तालिन द्वारा पार्टी व समाज में जनवादी माहौल बनाने के इस प्रयास को बाधित किया।

दावा नम्बर 2 : 'स्तालिन ने हिटलर के साथ गठबन्धन बनाया था जिसकी वजह से विश्वयुद्ध के दौरान लाखों लोग मारे गये'

श्नाइडर के इस हास्यास्पद दावे को भी कविता कृष्णन रट्टू तोते की तरह दोहराती है कि विश्वयुद्ध से पहले स्तालिन के नेतृत्व वाले सोवियत यूनियन ने हिटलर के नेतृत्व वाले जर्मनी के साथ समझौता कर लिया था जो पोलैण्ड, बेलारूस, यूक्रेन व तीन बाल्टिक देशों में लाखों लोगों की मौत का ज़िम्मेदार बना। सभी ट्रॉत्स्कीपन्थी और कम्युनिज़्म-विरोधी प्रचारकों की ही भाँति कृष्णन भी इस दावे को बल देने के लिए मोलोतोव-रिबेनट्रॉप सन्धि को सन्दर्भ से काटकर प्रस्तुत करती है। स्तालिन-विरोधी साम्राज्यवादी दुष्प्रचार की ही भाँति वह भी शातिराना ढंग से ग्रेट ब्रिटेन, फ़्रांस और अमेरिका जैसे साम्राज्यवादी देशों द्वारा फ़ासिस्टों के तुष्टीकरण के लम्बे इतिहास को गोल कर देती है और साथ ही अलग-थलग पड़ने के बावजूद फ़ासीवाद के आसन्न ख़तरे से निपटने के लिए सोवियत संघ द्वारा इन पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों के साथ मिलकर एक सामूहिक सुरक्षा समझौते को सम्पन्न कराने के अनथक प्रयासों की कोई चर्चा ही नहीं करती है। इतिहास का तथ्य यह है कि 1936 में जर्मनी, इटली और जापान का फ़ासिस्ट गठबन्धन खुले रूप में अस्तित्व में आ चुका था। 1936 में ही इटली ने इथियोपिया पर हमला कर दिया था। सोवियत यूनियन के प्रस्ताव के बावजूद इटली के ख़िलाफ़ कोई कारगर सामूहिक क़दम नहीं उठाया गया। 1938 में नात्सियों ने ऑस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया पर क़ब्ज़ा कर लिया। इस प्रकार नात्सी सोवियत संघ की सीमा की ओर तेज़ी से अग्रसर हो रहे थे। ऐसे में फ़ासीवाद के ख़तरे से निपटने के लिए सामूहिक पहल लेने के बजाय पश्चिमी ताक़तें हिटलर को सोवियत संघ पर हमला करने के लिए उकसाने में ही लगी हुई थीं। 29-30 सितम्बर 1938 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री चैम्बरलेन और फ़्रेंच प्रधानमंत्री दलादिए ने म्यूनिक में हिटलर और मुसोलिनी के साथ मुलाक़ात की और प्रसिद्ध 'म्यूनिक समझौते' पर हस्ताक्षर किये जिसके तहत चेकोस्लोवाकिया का विभाजन कर कुछ महत्वपूर्ण इलाक़े जर्मनी को दे दिये गये। इसके बाद ब्रिटेन और फ़्रांस ने अलग-अलग जर्मनी के साथ अनाक्रमण सन्धि करके उसे सोवियत संघ पर हमले के लिए और उकसाया। यही नहीं स्पेनी गणराज्य को कुचलने में उन्होंने जर्मन और इतालवी आक्राताओं का साथ दिया।

1939 तक आते-आते यह साफ़ हो चुका था कि दूसरा विश्वयुद्ध कभी भी छिड़ सकता है। मई, 1939 में जापान ने सोवियत यूनियन पर हमला कर दिया। बिल्कुल इसी समय, जब साम्राज्यवादी यह सोच रहे थे कि हिटलर पूर्व की ओर चढ़ाई करेगा और सोवियत यूनियन दोनों तरफ़ से उलझ जायेगा तो दिनों में ढह जायेगा, तब स्तालिन ने मोलोतोव-रिबेनट्रॉप समझौते के तहत जर्मनी के साथ अनाक्रमण सन्धि के रूप में ऐसा कूटनीतिक पैंतरा खेला कि साम्राज्यवादी अवाक रह गये। वैसे देखा जाये तो यह एक ऐसा कूटनीतिक मास्टरस्ट्रोक था जिसके लिए विश्व सर्वहारा के नेता स्तालिन की प्रशंसा की जानी चाहिए क्योंकि इसके ज़रिए सोवियत संघ ने साम्राज्यवादियों के दोनों धड़ों को आपस में ही लड़ाई में उलझा दिया और युद्ध की तैयारी के लिए बेशक़ीमती दो से ढाई वर्ष अर्जित किये।

जहाँ तक पोलैण्ड का सवाल है तो ग़ौरतलब है कि सोवियत सेना ने पोलैण्ड की सीमा वहाँ नात्सी हमले के 16 दिनों बाद तब पार की जब एक राज्य के रूप में उसका कोई वजूद नहीं रह गया था और उसने केवल उन्हीं क्षेत्रों को अपने नियंत्रण में लिया जो अक्टूबर क्रान्ति के बाद पोलैण्ड के शासकों ने उससे छीन लिये थे। अमेरिकी साम्राज्यवादी तंत्र के दुष्प्रचार के नशे में कविता कृष्णन इतना मदहोश हो चुकी है कि उसे यह भी याद नहीं रहा कि कि हिटलरनुमा फ़ासीवादी दानव को फ़ैसलाकुन शिकस्त स्तालिन के नेतृत्व में लाल सेना के लड़ाकों ने रूसी जनता के साथ मिलकर स्तालिनग्राद की गलियों में अपने बेमिसाल शौर्य, पराक्रम और अकूत क़ुर्बानियों की बदौलत दी थी।

दावा नम्बर 3 : 'स्तालिन ने सत्ता में बने रहने के लिए पार्टी के भीतर शीर्ष नेतृत्व का सफ़ाया कर दिया'

यह दावा भी कोई नया नहीं है और इसके तार ख्रुश्चेव द्वारा 1956 में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की 20वीं कांग्रेस में दिये गये गुप्त भाषण से जुड़ते हैं। ग्रोवर फ़र ने अपनी किताब 'ख्रुश्चेव लाइड' ('ख्रुश्चेव ने झूठ बोला था') में सोवियत पुरालेखों के आधार पर ख्रुश्चेव के सारे झूठों की कलई खोली है। सच तो यह है कि 1 दिसम्बर 1934 को पार्टी के अग्रणी नेता किरोव की हत्या के बाद से सोवियत सत्ता को गिराने के मक़सद से उसके ख़िलाफ़ आतंकी और विध्वंसक कार्रवाइयों की साज़िशें सामने आने लगी थीं। वास्तव में ट्रॉत्स्की के नेतृत्व में ट्रॉत्सकीपन्थियों, ज़िनोवियेववादियों और अन्य द्वारा एक गुप्त ब्लॉक 1932 में ही बनाया जा चुका था जिसका मक़सद आतंकी कार्रवाइयाँ करना और बोल्शेविक नेताओं की हत्याएँ करना और विद्रोह की तैयारी करना था। इस ब्लॉक को बनाये जाने के तथ्य को ट्रॉत्स्की के पुरालेखों के आधार पर भी सिद्ध किया जा चुका है जिन्हें 1980 के बाद हार्वर्ड विश्वविद्यालय ने सार्वजनिक कर दिया है। यह सच है कि 1936-38 के दौरान सोवियत सत्ता के ख़िलाफ़ षड्यंत्र को नाकाम करने की प्रक्रिया में बड़े पैमाने पर गिरफ़्तारियाँ हुईं, बहुतों को मौत की सज़ा सुनायी गयी और तमाम सदस्यों को पार्टी से बाहर निकाला गया। यह सच है कि इस मुहिम की चपेट में कई निर्दोष लोग भी आ गये। लेकिन इसे पार्टी या स्तालिन की सचेतन तौर पर अपनायी गयी नीति के रूप में प्रस्तुत करना इतिहास के साथ अत्याचार करने जैसा है। सच तो यह है कि स्तालिन को जैसे ही इन ज़्यादतियों के बारे में पता चला उन्होंने फ़ौरन इन्हें रोकने और ऐसा करने वाले लोगों के ख़िलाफ़ सख़्त कार्रवाई करने के आदेश दिये। सोवियत पुलिस एनकेवीडी का प्रमुख येजोव जो इन ज़्यादतियों का नेतृत्व कर रहा था उसे उसके पद से हटाकर लवेन्ती बेरिया को एनकेवीडी का प्रमुख बनाया गया जिसके बाद से ज़्यादतियों में कमी आयी। येजोव को गिरफ़्तार करके उसपर मुक़दमा चलाया गया और 1940 में उसे मौत की सज़ा दी गयी। यह समाजवादी समाज में जारी वर्ग संघर्ष था और वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया में हर चीज़ योजनाबद्ध तरीक़े से, किसी रात्रि-भोज या रेशम की क़सीदेकारी के समान नहीं होती है। पूँजीवादी क्रान्तियों के दौरान इससे कहीं भयंकर ज़्यादतियाँ हुई थीं और हिंसा हुई थी। लेकिन जब सर्वहारा क्रान्ति की बात आती है, तो उससे एक प्रेमगीत के समान कोमल और नाज़ुक होने की उम्मीद की जाती है! इससे बड़ी बेहूदगी और बकवास और क्या हो सकती है?

जहाँ तक मॉस्को मुक़दमों की बात है, तो उन्हें तमाम देशों के राजदूतों, पत्रकारों और बहुत सारे लेखकों की मौजूदगी में चलाया गया था। इनमें से कई ने बाद में इन मुक़दमों के सही होने और अपराधियों के इक़बालनामे एकदम दुरुस्त होने की बात को माना था। इनमें से एडवर्ड डेवीज़ उस समय अमेरिका के सोवियत यूनियन में प्रधान राजदूत और ख़ुद वकील थे; डी.एन. प्रिण्ट ब्रिटेन के राजदूत और विश्वप्रसिद्ध वकील थे; अन्ना लूई स्ट्रांग एक अमेरिकी लेखक थीं जिन्हें 1949 में सोवियत यूनियन से निकाला गया था, इसके बावजूद उन्होंने अपनी किताब 'स्तालिन युग' में इन मुक़दमों के सही होने की पुष्टिकी है।

दावा नम्बर 4 : 'स्तालिन यूक्रेन व सोवियत यूनियन के अन्य हिस्सों में लाखों किसानों की मौत के लिए ज़िम्मेदार थे'

यह दावा भी बहुत पुराना है कि सोवियत यूनियन में 1929 से शुरू हुई पहली पंचवर्षीय योजना के दौरान सामूहिकीकरण की मुहिम व कुलकों के परजीवी वर्ग के एक वर्ग के तौर पर ख़ात्मे के अभियान के फलस्वरूप लाखों लोगों की मौत हुई और उसके लिए स्तालिन सीधे तौर पर ज़िम्मेदार थे। लेकिन लूडो मार्टेन्स व अन्ना लुई स्ट्रॉन्ग जैसे लेखकों ने पहले ही इस झूठ का पर्दाफ़ाश किया है। अव्वलन तो मौत के आँकड़ों को बेशर्मी के साथ बढ़ा-चढ़ाकर बताया जाता है ताकि स्तालिन को एक क्रूर व हिंसक व्यक्ति साबित किया जा सके। ऐसा करके सामूहिकीकरण के दौरान जारी तीखे वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया को नज़रअन्दाज़ कर दिया जाता है। यह उथल-पुथल-भरी प्रक्रिया मोटे तौर पर दो चरणों से गुज़रती है। पहले चरण में अनुमान से अधिक खेतों का सामूहिकीकरण होने से जो अराजकता व्याप्त हुई थी उसे दूसरे चरण में दुरुस्त कर लिया गया था। इस दूसरे चरण में कुलकों ने वर्ग के रूप में अपने अस्तित्व को बचाने के लिए सोवियत सत्ता के ख़िलाफ़ बग़ावत छेड़ दी। उनके द्वारा खड़े किये गये हथियारबन्द दस्तों ने जगह-जगह विद्रोह किये, आतंकवादी कार्रवाइयाँ कीं, पार्टी द्वारा भेजे गये कितने ही कम्युनिस्टों को मारा गया। सामूहिकीकरण की प्रक्रिया को असफल करने के लिए उत्पादन के साधनों का ख़ात्मा बड़े स्तर पर किया गया ताकि सामूहिक खेत शुरू ही न हो सकें। पकी फ़सलों को जलाया गया, और इमारतों को तबाह किया गया। यही नहीं कुलकों द्वारा अफ़वाहें भी फैलायी गयीं और राजनीतिक प्रचार भी किया गया, किसानों की निरक्षरता, सांस्कृतिक पिछड़ेपन, अन्धविश्वासों और धार्मिक विश्वासों का पूरा फ़ायदा उठाया गया और उन्हें बोल्शेविकों के ख़िलाफ़ भड़काया गया। ऐसे में प्रतिक्रियावादी कुलकों-धनी फ़ार्मरों का दमन किया गया जो किसी भी समाजवादी सत्ता के लिए लाज़िमी है। जैसाकि माओ ने कहा था कि क्रान्ति कोई डिनर पार्टी या रेशम की क़सीदाकारी नहीं होती बल्कि एक

(पेज 4 पर जारी)

संघ परिवार के साम्प्रदायिक फ़ासीवाद और धार्मिक कट्टरपन्थ को खुला हाथ क्यों?

(पेज 1 से आगे)

कर रहा है? सच तो यह है कि हमारे देश में जनता की एकता को हर प्रकार के धार्मिक कट्टरपन्थी और दक्षिणपन्थी साम्प्रदायिक अतिवाद से ख़तरा है और पीएफ़आई ऐसा अकेला संगठन नहीं है जो इस प्रकार की प्रतिक्रियावादी और जनविरोधी विचारधाराओं के प्रचार-प्रसार और अतिवादी गतिविधियों में लगा रहा है। **यहाँ तक कि पीएफ़आई को इस मामले में सबसे बड़ा ख़तरा भी नहीं कहा जा सकता है। इस देश में ये काम करने वाला अगर कोई सबसे बड़ा संगठन है तो वह है राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और उसके तमाम अनुषंगी संगठन।** पीएफ़आई जैसे धार्मिक कट्टरपन्थी संगठन पर रोक का कोई भी जनवादी व्यक्ति बिना शर्त विरोध या समर्थन नहीं कर सकता है। पहला सवाल तो एक धार्मिक कट्टरपन्थ द्वारा दूसरे धार्मिक कट्टरपन्थ पर प्रतिबन्ध लगाये जाने पर ही है। **स्वयं धार्मिक उन्माद की लहर फैलाने वाली भाजपा की सरकार इस्लामिक धार्मिक कट्टरपन्थी संगठन पर प्रतिबन्ध लगाये, क्या यह ख़ुद एक भद्दा मज़ाक़ नहीं है?** इसके अलावा भी दो मुद्दे हैं : पहला, पीएफ़आई के धार्मिक कट्टरपन्थ और आतंकवाद पर निशाना साधने के नाम पर बेगुनाह आम ग़रीब मेहनतकश मुसलमानों को निशाना नहीं बनाया जाना चाहिए जो कि बनाया जा रहा है और सभी गिरफ़्तार लोगों को निष्पक्ष जाँच और मुक़दमे का अधिकार मिलना चाहिए जो कि मोदी-शाह की सत्ता के आने के बाद ग़रीबों, राजनीतिक विरोधियों और अल्पसंख्यकों को नहीं मिलता रहा है और, दूसरा, सिर्फ़ एक धर्म के धार्मिक कट्टरपन्थी अतिवाद और आतंकवाद पर ही नहीं, बल्कि सभी धर्मों में मौजूद ऐसे धार्मिक कट्टरपन्थी अतिवादी और आतंकवादी विचारधाराओं और संगठनों पर पूर्ण रोक लगायी जानी चाहिए क्योंकि अगर केवल किसी धर्म विशेष में मौजूद कट्टरपन्थ और अतिवाद को निशाना बनाया जाता है, जबकि बहुसंख्यवादी साम्प्रदायिक फ़ासीवाद और उसके धार्मिक कट्टरपन्थ को हाथ भी नहीं लगाया जाता तो वास्तव में इस प्रतिबन्ध का निशाना स्वयं पीएफ़आई नहीं बल्कि मुस्लिम समुदाय है। **ज़ाहिर है कि अगर प्रतिबन्ध का अधिकारी कोई है तो सबसे पहले बहुसंख्यवादी धार्मिक कट्टरपन्थ, साम्प्रदायिक फ़ासीवाद और अतिवाद है और उसमें पहला नम्बर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और उसके अनुषंगी संगठनों का होना चाहिए क्योंकि सबसे बड़ी ताक़त होने के चलते देश की जनता की एकता को अगर किसी से सबसे बड़ा ख़तरा है तो वे ये ही संगठन हैं।** ज़ाहिर है, मौजूदा दौर में यह सम्भव नहीं है क्योंकि ये ही ताक़तें आज सत्ता में क़ाबिज़ हैं! फिर भी इस सवाल पर इस नज़रिए से सोचना हमारे लिए गहरी प्रासंगिकता रखता है। **सच तो यह है कि पीएफ़आई पर प्रतिबन्ध लगाने का कोई नैतिक अधिकार संघ परिवार के चुनावी फ़्रण्ट भाजपा की सरकार के पास नहीं है जो कि स्वयं एक धार्मिक कट्टरपन्थी और साम्प्रदायिक फ़ासीवादी विचारधारा से संचालित है।**

यह बात हम यूँ ही नहीं कह रहे हैं। आइए, कुछ प्रमाणों और तर्कों पर ग़ौर करें।

अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् की सदस्य रही प्रज्ञा ठाकुर का नाम सीधे तौर पर मालेगाँव बम धमाकों में आया, जिसका मक़सद साम्प्रदायिक उन्माद भड़काना था। ठाकुर को गिरफ़्तार भी किया गया और वह जेल में भी रही। उसके बाद, जैसा कि ऐसे मामलों में पकड़े जाने पर संघ से जुड़े लोगों के साथ होता है, ठाकुर को ज़मानत मिल गयी। इसके बाद भाजपा ने बाक़ायदा उसे चुनाव में टिकट दिया और आज वह मोदी सरकार की एक सांसद है। अभी भी उसके ऊपर यूएपीए के तहत मुक़दमा जारी है। **फ़र्ज़ करें, अगर कोई धार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय का व्यक्ति ऐसे मामले में पकड़ में आता तो क्या उसे ज़मानत मिलती? क्या अब तक वह यूएपीए के तहत या उसके बिना ही जेल में नहीं सड़ रहा होता?** लेकिन प्रज्ञा ठाकुर को अपनी आतंकी गतिविधियों का ईनाम सांसद बनाकर भाजपा ने दिया। बिना किसी आतंकी कार्रवाई में हिस्सा लिये उमर ख़ालिद, गौतम नवलखा, आनन्द तेलतुम्बडे जैसे लोगों को जेलों में डाल दिया गया है। लेकिन अगर आप आरएसएस के हैं तो आपके द्वारा आतंकी कार्रवाई में हिस्सा लिया जाना भी "राष्ट्रवाद" माना जायेगा!

हमारे देश में एक प्रदेश का भाजपा का मुख्यमंत्री बाक़ायदा वीडियो पर यह बयान देते हुए दर्ज है कि हरेक हिन्दू कन्या के बदले हिन्दू युवा वाहिनी 100 मुसलमान कन्याओं को अगवा करेगी और हर एक हिन्दू की हत्या पर 100 मुसलमानों की हत्या की जायेगी। इस नेता की मौजूदगी में ही मंच पर एक अन्य नेता मुसलमान औरतों को क़ब्र से निकालकर बलात्कार करने का आह्वान करता है। यही नेता खुलेआम मंच से बयान देता है कि हिन्दू और मुसलमान साथ नहीं रह सकते और वह एक धर्मयुद्ध की तैयारी कर रहा है और केवल वही जिहाद का जवाब दे सकता है। इन नेता का नाम अजय मोहन सिंह बिष्ट उर्फ़ योगी आदित्यनाथ है और आदित्यनाथ उत्तर प्रदेश के 2014 से मुख्यमंत्री हैं। **ऐसा व्यक्ति मुख्यमंत्री बनने के बाद अपने ऊपर धार्मिक उन्माद और दंगा फैलाने के सारे मुक़दमे हटवा देता है। देश का क़ानून, उसकी अदालत चुपचाप देखती रहती है। क्या इस प्रकार के बयान देश की एकता को नहीं तोड़ते? क्या ऐसे बयान स्वयं आतंकी कार्रवाइयों और साम्प्रदायिक हिंसा के लिए भड़काने का काम नहीं करते? क्या वे संविधान का उल्लंघन नहीं करते? क्या ऐसे बयान देने वाले लोगों के संगठन पर प्रतिबन्ध नहीं लगना चाहिए?**

पूरा देश जानता है कि गुजरात में 2002 में हुए नरसंहार में बजरंग दल और विश्व हिन्दू परिषद् की क्या भूमिका थी। यहाँ तक कि अदालत ने बजरंग दल, विहिप और भाजपा के कई नेताओं को जेल तक भेजा। बजरंग दल का बाबू बजरंगी एक स्टिंग ऑपरेशन के दौरान कैमरे पर क़ुबूल करता पाया गया कि उसने दर्जनों मुसलमानों का क़त्ल किया और करवाया। माया कोडनानी जो कि गुजरात राज्य की मोदी सरकार में उस समय महिला और बाल विकास मंत्री थी, स्वयं दंगाइयों की अगुवाई करते हुए उनसे धार्मिक अल्पसंख्यकों का क़त्ल करवाने में संलिप्त पायी गयी और उसके लिए उसे सज़ा भी हुई। बाद में, गुजरात हाई कोर्ट ने सारे सबूतों और फ़ैसलों को नज़रन्दाज़ करते हुए माया कोडनानी को बरी कर दिया! उसकी जगह बजरंग दल के स्थानीय छुटभैया नेताओं सुरेश रिचर्ड और प्रकाश राठोड़ की सज़ा को बरक़रार रखा। **क्या ये सारी कार्रवाइयाँ देश की एकता के लिए ख़तरा नहीं थीं? क्या इन्हें आतंकी कार्रवाई नहीं माना जायेगा? क्या ये इन आपराधिक संगठनों पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए पर्याप्त कारण मुहैया नहीं कराते?**

सभी जानते हैं कि बजरंग दल, विहिप, आदि आरएसएस के अनुषंगी संगठन लगातार जनता की एकता को धार्मिक आधार पर तोड़ने का काम करते हैं। जो इनकी शाखा में एक बार भी गया होगा, वह इस बात को जानता है। ये संगठन बच्चों और युवाओं के मन में लगातार ज़हर घोलने का काम करते हैं। इनमें से कई तो युवाओं ही नहीं बच्चों तक को बाक़ायदा हथियारों को इस्तेमाल करने का प्रशिक्षण देते हैं और स्वयं इन संगठनों की स्थिति अर्द्धसशस्त्र अर्द्धसैन्य आतंकी दस्तों जैसी है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ बाक़ायदा भोंसला मिलिटरी स्कूल चलाने में शामिल है, जिसकी स्थापना हिन्दू महासभा के नेता मूंजे ने सेण्ट्रल हिन्दू मिलिटरी एजुकेशन सोसायटी नामक संस्था के ज़रिए की थी। यह स्कूल आरएसएस के लिए क्या भूमिका निभाता है, यह समझना कोई मुश्किल काम नहीं है। यह भारत में फ़ासीवादी संगठनों के सैन्यकरण का एक उपकरण रहा है और आज भी है। **वैसे भी एक सेक्युलर देश में धर्म के आधार पर किसी भी प्रकार की शिक्षा दिये जाने की इजाज़त कैसे दी जा सकती है?** लेकिन यह सब खुलेआम होता है। अन्य पार्टियों की सरकारें भी संघ परिवार की ज़रूरत को समझती हैं। वे जानती हैं कि संकटकाल में मज़दूर वर्ग और मेहनतकश जनता के उभार पर क़ाबू पाने, जनता की एकता को तोड़ने और पूँजीपति वर्ग के हितों को तानाशाहाना तरीक़े से पूरा करने के लिए संघ परिवार भारत के पूँजीपति वर्ग की आवश्यकता है। इसीलिए बाक़ायदा धार्मिक कट्टरपन्थी, फ़ासीवादी आतंकी, और जनता की एकता को छिन्न-भिन्न करने की गतिविधियों में संलिप्तता के प्रमाणों के बावजूद संघ परिवार के संगठनों पर कभी पाबन्दी नहीं लगती।

आरएसएस पर दो बार प्रतिबन्ध लगा भी है, तो अपवादिक स्थितियों में। पहली बार 1948 में जब महात्मा गाँधी की हत्या की साज़िश में हिन्दू महासभा और आरएसएस के लोगों की संलिप्तता स्पष्ट तौर पर सामने आयी थी। सरदार पटेल ने गृहमंत्री के तौर पर आरएसएस पर यह कह कर प्रतिबन्ध लगाया था कि देश से हिंसा और नफ़रत की ताक़तों को जड़ से उखाड़कर फेंकने के लिए यह प्रतिबन्ध लगाया गया है। लेकिन 1949 में ही यह प्रतिबन्ध आरएसएस के सरसंघचालक द्वारा कुछ दिखावटी वायदों के आधार पर हटा लिया गया था! लेकिन उसके बाद भी आरएसएस लगातार जनता की एकजुटता को धार्मिक आधार पर तोड़ने की अपनी साम्प्रदायिक फ़ासीवादी साज़िशों में लगातार लगा रहा है। दूसरी बार प्रतिबन्ध इन्दिरा गाँधी सरकार ने आपातकाल के दौरान लगाया था, जब कई संगठनों पर प्रतिबन्ध लगा था, जो इन्दिरा गाँधी सरकार के ख़िलाफ़ थे।

आये दिन देश के तमाम हिस्सों से ख़बरें आती हैं कि फलाँ जगह आरएसएस सदस्य बम बनाने के प्रयास करते हुए विस्फोट में घायल हुआ या मारा गया। आये दिन भाजपा के नेता कैमरे पर बयान देते पकड़े जाते हैं कि कई जगह उन्मादी झुण्डों के ज़रिए मुसलमानों की हत्या करवाने में उन्होंने अगुवाई की, यानी उनकी लिंचिंग करवायी, राजस्थान का भाजपा का एक नेता सीधे कैमरे पर बोलता है कि उसने अब तक पाँच लोगों की लिंचिंग (झुण्ड द्वारा हत्या) करवायी है और आगे भी करवायेंगे और इसके लिए उसने अपने संगठन के कार्यकर्ताओं को खुला हाथ देकर बताया है कि लोगों को "मारो, ज़मानत हम करवायेंगे।" **क्या यह आतंकवाद की श्रेणी में, देश के संविधान के उल्लंघन की श्रेणी में, देश की जनता की एकता को तोड़ने की श्रेणी में नहीं आता है? क्या किसी भी धार्मिक अल्पसंख्यक संगठन का कोई व्यक्ति इस प्रकार की**

(पेज 10 पर जारी)

संघ परिवार के साम्प्रदायिक फ़ासीवाद और धार्मिक कट्टरपन्थ को खुला हाथ क्यों?

(पेज 9 से आगे)

कार्रवाई करता तो भारत सरकार उसे प्रतिबन्धित नहीं करती, उसे फ़ौरन आतंकवादी, पाकिस्तान-समर्थक आदि घोषित नहीं करती?

जब भी संघ परिवार के किसी संगठन के लोग सीधे तौर पर ऐसी आतंकी गतिविधियों में, धार्मिक कट्टरपन्थी बयान देने और जनता को धार्मिक हिंसा के लिए भड़काने, हत्या और बम-विस्फोट में पकड़े जाते हैं, तो उसे एक या दो उन्मादी सदस्यों का काम बताकर आरएसएस और उसके अनुषंगी संगठनों को दोष से बरी कर दिया जाता है। 1948 में लगे प्रतिबन्ध के दौरान भी पटेल आरएसएस के नेता गोलवलकर से दो बार मिले और जब 1949 में गोलवलकर ने यह आश्वासन दे दिया कि वे अपने संगठन के अतिवादी लोगों से बात करेंगे और उन पर नियंत्रण करेंगे और आरएसएस महज़ सांस्कृतिक काम करेगा, तो यह प्रतिबन्ध हटा लिया गया! **क्या जवाहरलाल नेहरू और पटेल इतने नादान थे कि वे नहीं जानते थे कि आरएसएस के कुछ पागल उन्मादी ऐसी आतंकी घटनाओं को अंजाम नहीं देते हैं, बल्कि आरएसएस की विचारधारा और राजनीति ही ऐसी है, जो संगठित तौर पर और सोचे-समझे तौर पर ऐसी घटनाओं को अंजाम देती है?** जानते थे। लेकिन इसके बावजूद आरएसएस से प्रतिबन्ध हटा लिया गया क्योंकि वह भारतीय पूँजीपति वर्ग की ज़रूरत था। **ज़रा सोचिए, यदि किसी धार्मिक अल्पसंख्यक या सरकार व व्यवस्था-विरोधी संगठन का कोई एक पागल या उन्मादी व्यक्ति भी ऐसी किसी कार्रवाई में संलिप्त पाया जाता है, तो उस पूरे संगठन के साथ भारत की पूँजीवादी व्यवस्था क्या बर्ताव करती है? कल्पना करिए कि आये दिन देश के अलग-अलग इलाक़ों में किसी अल्पसंख्यक समुदाय के लोग अपने घरों में देसी बम बनाते पकड़े जायें, घायल हों या मारे जायें तो फ़ासीवादी मोदी सरकार उनके साथ क्या बर्ताव करेगी? लेकिन अगर आरएसएस के सदस्य ऐसा करते पकड़े जाते हैं, बम विस्फोट करवाते, हिंस्र बयान देते, लिंचिंग करवाने की बात को स्वीकार करते, क़ब्रों से औरतों को निकालकर बलात्कार करने का आह्वान करते पकड़े जाते हैं तो उसे किसी एक व्यक्ति द्वारा की गयी पागलपन-भरी या उन्मादी हरकत बताकर संघ परिवार को इस दोष से बरी कर दिया जाता है और हमें याद दिलाया जाता है कि संघ परिवार तो बस सांस्कृतिक कार्रवाई करता है! सच्चाई सभी जानते हैं कि इनकी संस्कृति क्या है और इनकी कार्रवाइयाँ क्या हैं।**

पूँजीवादी क़ानून औपचारिक तौर पर दावा करता है कि उसके समक्ष सभी समान हैं। लेकिन क्या वाक़ई ऐसा है? नहीं! यह हमारे देश में और ख़ास तौर पर भाजपा सरकार के दौर में एक खोखले दावे से ज़्यादा और कुछ भी नहीं है। पीएफ़आई पर प्रतिबन्ध लगाने में मोदी सरकार के लिए आतंकवाद तो केवल बहाना है, आम जनता असली निशाना है। इसे दो बातों से समझिए।

यूएपीए के तहत पीएफ़आई पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए जो आदेश जारी हुआ है, उसमें यूएपीए की ही धाराओं के अनुसार प्रतिबन्ध की कोई ठोस वजह और सबूत नहीं बताये गये हैं। अगर आज भारत की न्यायपालिका में निष्पक्षता का ढोंग करने की भी ताक़त बची होती तो ऐसा आदेश कुछ मिनट भी अदालत में नहीं टिक सकता है। वास्तव में, पीएफ़आई एक धार्मिक कट्टरपन्थी और अतिवादी संगठन है, इसमें कोई दो राय नहीं है लेकिन मोदी सरकार ने इस पर प्रतिबन्ध लगाने का काम इतनी आनन-फ़ानन में क्यों किया है कि अपने आरोप-पत्र भी ढंग से नहीं बनाये?

इसे समझने के लिए मसले के दूसरे पहलू पर आते हैं। कुछ समय पहले अमित शाह और गृह मंत्रालय ने दावा किया था कि नागरिकता संशोधन क़ानून और राष्ट्रीय नागरिकता रजिस्टर (सीएए और एनआरसी) के विरुद्ध देशभर में जो ज़बर्दस्त प्रतिरोध आन्दोलन हुआ था, उसके पीछे पीएफ़आई का हाथ था। **सच्चाई यह है कि पीएफ़आई की इतनी ताक़त ही नहीं है कि वह सीएए-एनआरसी विरोधी आन्दोलन जैसा विशाल और ताक़तवर आन्दोलन कर सके, जिससे कि भाजपा सरकार कुछ समय के लिए हिल गयी थी।** कई जगहों पर पीएफ़आई के लोग भी आन्दोलन में घुसने का काम कर रहे थे, लेकिन यह आन्दोलन पीएफ़आई के नेतृत्व में नहीं था। अलग-अलग जगहों पर यह आन्दोलन स्वत:सफूर्त रूप से खड़ा हुआ था और अलग-अलग जगहों पर अलग-अलग स्थानीय संगठन इसमें केन्द्रीय भूमिका में थे। कई जगहों पर तो कोई संगठन भी मौजूद नहीं था और केवल लोगों ने आरज़ी तौर पर अगुवाई का काम करने के लिए कोई व्यक्ति या किसी कमेटी को चुन लिया था।

दूसरी बात, जो कि मोदी सरकार को सबसे ज़्यादा चुभ रही थी कि यह सिर्फ़ मुसलमान आबादी का आन्दोलन नहीं था, बल्कि तेज़ी से इसमें हर तबक़े और समुदाय से आने वाले जागरूक, जनवादी और तरक़्क़ीपसन्द लोग शामिल होते जा रहे थे। क्योंकि आम हिन्दू मेहनतकश जनता को भी यह पता चल रहा था कि असम में एनआरसी के लागू होने की क्या क़ीमत व्यापक हिन्दू आबादी को भी चुकानी पड़ी थी। बहरहाल, यह आन्दोलन स्वत:स्फूर्तता के तत्व के हावी रहने और एक निश्चित संगठित नेतृत्व और दिशा के अभाव में विसर्जित हो गया। कोविड ने इसमें एक तात्कालिक भूमिका निभायी हालाँकि आन्दोलन को बहुविध रूपों में जारी रखने का जो काम होना चाहिए था, वह नहीं हो सका। लेकिन इन सबके बावजूद मोदी सरकार को अपने पूरे कार्यकाल में इतनी बड़ी चुनौती कभी नहीं मिली थी। अब मोदी-शाह निज़ाम का मक़सद है कि ऐसे सभी लोगों को मज़ा चखाया जाये और "अनुशासित" किया जाये जो उसके लिए दिक़्क़तें पैदा करते हैं। इसलिए बहाना पीएफ़आई का है, लेकिन वास्तव में इसके तहत तमाम आम लोगों को भी निशाना बनाया जायेगा, एक आतंक का माहौल तैयार किया जायेगा और यह सन्देश सम्प्रेषित किया जायेगा कि जो भी मोदी सरकार की मुख़ालफ़त करेगा, उसे इसी प्रकार प्रताड़ित किया जायेगा।

इस पूरे मसले पर क्रान्तिकारी मज़दूर वर्ग की अवस्थिति यह है कि यदि सरकार वाक़ई देश की "अखण्डता", जनता की एकता, आदि को बचाने के लिए परेशान है, तो उसे केवल एक धर्म के कट्टरपन्थ और अतिवाद को निशाना बनाने के बजाय हर धर्म के कट्टरपन्थ और अतिवाद को निशाना बनाना चाहिए और ऐसे सभी संगठनों को प्रतिबन्धित करना चाहिए जो धार्मिक कट्टरपन्थी विचारधारा और आतंकी गतिविधियों में लिप्त हैं और सेक्युलरिज़्म और जनवाद के उसूलों के ख़िलाफ़ हैं। सिर्फ़ एक धर्म के कट्टरपन्थ और अतिवाद को निशाना बनाने का मतलब केवल उस विशिष्ट धर्म के समुदाय को निशाना बनाना है। अगर सरकार की वाक़ई मंशा आम तौर पर धार्मिक कट्टरपन्थ और अतिवाद पर लगाम कसने की होती तो सबसे पहले ऐसे सबसे बड़े संगठन आरएसएस को प्रतिबन्धित किया जाता, लेकिन ज़ाहिरा तौर पर यह नहीं हो सकता है क्योंकि आज संघ परिवार से जुड़ी पार्टी भाजपा की ही सरकार है! **ऐसे में, हमें इस मसले पर मोदी सरकार और संघ परिवार की सच्चाई को जनता के सामने लाना चाहिए और इनके दोमुँहेपन को बेनक़ाब करना चाहिए। हमें बताना चाहिए कि धार्मिक कट्टरपन्थ के ख़िलाफ़ इनके मुँह से बात कुछ शोभा नहीं देती क्योंकि ये स्वयं धार्मिक कट्टरपन्थी साम्प्रदायिक फ़ासीवाद की विचारधारा को मानते हैं और इनके संगठन स्वयं ही फ़ासीवादी आतंक को फैलाने में शुरू से लगे रहे हैं।**

क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग हर प्रकार के धार्मिक कट्टरपन्थ और आतंकवाद का विरोध करता है और मानता है कि तमाम अल्पसंख्यक समुदायों में अगर धार्मिक कट्टरपन्थ और अतिवाद का असर मौजूद होता है, तो उसकी वजह भी राज्यसत्ता द्वारा फैलाये जाने वाले आतंक में है और उसके बहुसंख्यवाद द्वारा अल्पसंख्यक समुदायों को अलगावग्रस्त किये जाने में है। **जिस देश का प्रधानमंत्री दंगाइयों को "पोशाक से पहचानने" जैसे बयान देता हो, एक मन्दिर के शिलान्यास और भूमि-पूजन में शामिल होता हो, अपनी हिन्दू पहचान को बार-बार रेखांकित करता हो, उस देश में क्या अन्य धार्मिक अल्पसंख्यक अपने आपको अलगावग्रस्त महसूस नहीं करेंगे?** यदि उनके कुछ हिस्से अपने में सिमटने लगते हैं, अपनी धार्मिक पहचान के इर्द-गिर्द गोलबन्द होने लगते हैं और कालान्तर में उनमें धार्मिक कट्टरपन्थियों का असर होता है, तो क्या इस पर कोई ताज्जुब किया जा सकता है?

क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग धर्म को राजनीतिक व सामाजिक जीवन से पूर्ण रूप से अलग करके पूरी तरह से एक निजी मसला बनाये जाने का पक्षधर है। कोई भी शक्ति सीधे या घुमा-फिराकर, किसी भी रूप में धर्म को राजनीति और सामाजिक जीवन से जोड़ती है, उसे किसी भी प्रकार की गोलबन्दी या संगठन का आधार बनाती है, तो उसे प्रतिबन्धित किया जाना चाहिए और मज़हब को सही मायने में पूरी तरह से नागरिकों की ज़ाती ज़िन्दगी का मसला बनाया जाना चाहिए। जब तक ऐसा नहीं होगा तब तक आरएसएस जैसे संगठन भी समाज में जनता की एकता को तोड़ते रहेंगे और पीएफ़आई जैसे संगठन भी। **हमें समझ लेना चाहिए कि हिन्दू मुसलमान का, मुसलमान हिन्दू का दुश्मन नहीं है। बल्कि आम मेहनतकश हिन्दुओं, मुसलमानों, सिखों, ईसाइयों, दलितों, सवर्णों, सभी के दुश्मन लुटेरे और शोषक वर्ग के लोग हैं, चाहे वे हिन्दू हों, मुसलमान हों, सिख हों, या ईसाई हों, सवर्ण हों या दलित हों।**

क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग तात्कालिक तौर पर सरकार से यह माँग उठाता है कि सिर्फ़ पीएफ़आई ही नहीं, बल्कि आरएसएस समेत, हर प्रकार के धार्मिक कट्टरपन्थी और अतिवादी संगठन पर प्रतिबन्ध लगाये, जिसके लिए पर्याप्त कारण व प्रमाण मौजूद हैं। साथ ही, पीएफ़आई पर निशाना साधने के नाम पर बेगुनाह लोगों को प्रताड़ित करना तत्काल बन्द किया जाना चाहिए और गिरफ़्तार लोगों को निष्पक्ष सुनवाई का हक़ मिलना चाहिए।

दूरगामी तौर पर, सर्वहारा वर्ग एक क्रान्तिकारी फ़ासीवाद-विरोधी जनान्दोलन को खड़ा करने को ही वह रास्ता मानता है जिसके ज़रिए फ़ासीवादी मोदी सरकार और फ़ासीवादी संघ परिवार के नापाक मंसूबों को नाकाम किया जा सकता है। साथ ही, यह भी स्पष्ट है कि फ़ासीवाद के मौजूदा दौर में किसी प्रकार के पूँजीवादी जनवाद की स्थापना करना कोई रणनीतिक लक्ष्य हो ही नहीं सकता है। आज का अभूतपूर्व रूप से मानवद्रोही, परजीवी, संकटग्रस्त पूँजीवाद फ़ासीवाद और अन्य प्रकार की धुर-दक्षिणपन्थी प्रतिक्रियाओं को अपनी नैसर्गिक गति से पैदा करता है और पूँजीपति वर्ग के ग़ैर-फ़ासीवादी हिस्से भी सत्ता में होने पर फ़ासीवादी शक्तियों के विरुद्ध कोई निर्णायक कार्रवाई नहीं करने वाले हैं। **आज यह बात हमेशा से ज़्यादा लागू होती है कि फ़ासीवाद जब सत्ता में नहीं होता तो भी बुर्जुआ वर्ग के लिए ज़ंजीर में बँधे कुत्ते के समान उसकी आवश्यकता होता है।** इसलिए फ़ासीवाद की निर्णायक पराजय का सवाल अब एक सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति से जाकर जुड़ता है।

हमें पीएफ़आई पर प्रतिबन्ध की पूरी राजनीति के पीछे मोदी-शाह सरकार के असली इरादे को समझना चाहिए, आपस में सभी धर्मों के मेहनतकशों-मज़दूरों को अपनी एकता बनानी चाहिए, धर्म को पूरी तरह से निजी मसला मानना चाहिए और फ़िरकापरस्त ताक़तों को अपने बीच फूट डालने का मौक़ा बिल्कुल नहीं देना चाहिए। हम यह मौक़ा इन ताक़तों को देते रहे हैं, इसीलिए आज पूँजीपति वर्ग के मालिकों, ठेकेदारों, बिचौलियों और अमीरज़ादों के ख़िलाफ़ हमारी लड़ाई कमज़ोर है। हमें लूटने वाले आपस में धर्म का भेदभाव नहीं करते, बस उसका अपनी राजनीति चमकाने में इस्तेमाल करते हैं। ये एक-दूसरे के दशहरा मेलों और इफ़्तार पार्टियों में इकट्ठा होते हैं और हमारी नादानी पर हँसते हैं और हमारी खिल्ली उड़ाते हैं कि धर्म के नाम पर, मन्दिर-मस्जिद के नाम पर हमें वे कितनी आसानी से बाँट लेते हैं। वे जानते हैं कि वे हमें बाँटकर ही हम पर राज कर सकते हैं। हमें उनकी इस साज़िश को समझना चाहिए और आगे उसे कामयाब नहीं होने देना चाहिए।

क्रान्तिकारी मज़दूर शिक्षण माला – 5

माल, उपयोग-मूल्य, विनिमय-मूल्य और मूल्य

– अभिनव

मनुष्य के श्रम से पैदा होने वाली वस्तुओं की एक विशिष्टता होती है, उनका उपयोगी होना। वे किसी न किसी मानवीय आवश्यकता की पूर्ति करती हैं। अगर ऐसा न हो तो कोई उन्हें नहीं बनायेगा। उनके उपयोगी होने के इस गुण को हम **उपयोग-मूल्य** कहते हैं। उपयोग-मूल्य के रूप में वस्तुओं का उत्पादन प्राचीनकाल से ही चला आ रहा है, तब से जब मनुष्य ने पहली बार अपनी आवश्यकता के लिए प्रकृति को बदलकर वस्तुओं को बनाना या पैदा करना शुरू किया था, यानी उत्पादन शुरू किया था। किसी चीज़ का उपयोग-मूल्य कोई पहले से दिया गया प्राकृतिक गुण नहीं होता है, बल्कि यह एक ऐतिहासिक और सामाजिक गुण होता है। कोई वस्तु किसी एक ऐतिहासिक युग में निश्चित लोगों के लिए उपयोगी हो सकती है और युग बदलने के साथ ऐसा सम्भव है कि वह उपयोगी न रह जाये। लेकिन किसी भी समय में यदि मनुष्यों के श्रम से बनने वाली कोई वस्तु किसी मानवीय आवश्यकता की पूर्ति करती है, तो यह उसमें एक उपयोग-मूल्य को पैदा करता है। एक समय में समाज में अधिकांश वस्तुओं का उत्पादन प्रत्यक्ष उपभोग के लिए ही होता था, चाहे उनका प्रत्यक्ष उपभोग प्रत्यक्ष उत्पादकों द्वारा किया जाये, या फिर शोषक-शासक वर्गों द्वारा जो उत्पादक वर्गों द्वारा बनाये गये अधिशेष उत्पाद को हड़प लेते हों। ऐसे दौरों के बारे में हम कह सकते हैं कि वस्तुओं का उत्पादन मुख्यतः उपयोग-मूल्यों के रूप में होता था।

लेकिन उपयोग-मूल्य के अलावा मनुष्यों के श्रम से पैदा होने वाली वस्तुओं का एक अन्य प्रकार का मूल्य भी हो सकता है, जिसे हम **विनिमय-मूल्य** कहते हैं। यानी ऐसी वस्तुएँ जिनका उत्पादन धनी वर्गों व प्रत्यक्ष उत्पादक वर्गों द्वारा प्रत्यक्ष उपभोग के लिए नहीं होता, बल्कि वह बाज़ार में बेचने या विनिमय के लिए होता है। ऐसी वस्तुओं को हम मात्र उपयोग-मूल्य नहीं मान सकते, क्योंकि उनका उत्पादन प्रत्यक्ष उत्पादकों और धनी शोषक वर्गों द्वारा प्रत्यक्ष उपभोग हेतु नहीं होता बल्कि बेचने के लिए या बाज़ार में विनिमय के लिए होता है। किसी वस्तु का अन्य वस्तु या मुद्रा से विनिमय होने का यह गुण उसे एक उपयोग-मूल्य से अधिक कुछ बना देता है। अब उस वस्तु में उपयोग-मूल्य ही नहीं बल्कि विनिमय-मूल्य भी है। ऐसी वस्तुएँ जिनमें उपयोग-मूल्य के साथ-साथ विनिमय-मूल्य होता है, यानी ऐसी वस्तुएँ जिन्हें बाज़ार में बेचने के लिए पैदा किया जाता है, उन्हें हम माल कहते हैं। माल वह वस्तु या सेवा है जिनका उत्पादन प्रत्यक्ष उपभोग के लिए नहीं बल्कि बेचने के लिए किया जाता है और जिनका एक उपयोग-मूल्य और एक विनिमय-मूल्य होता है। विनिमय-मूल्य किसी भी माल के अन्य मालों से एक निश्चित अनुपात में विनिमय होने का गुण है। इसके दो पहलू हैं : पहला, उसका अन्य मालों से विनिमय हो सकने का गुण, जो कि उसका **गुणात्मक पहलू** है और दूसरा, उसका अन्य मालों के साथ एक निश्चित अनुपात में विनिमय होने का गुण, जो कि उसका **परिमाणात्मक पहलू** है।

आपने ग़ौर किया होगा कि हमने मालों का ज़िक्र करते समय यहाँ वस्तुओं के साथ "सेवा" शब्द को भी जोड़ा है। वजह यह है कि हर माल कोई छुई जा सकने वाली भौतिक वस्तु हो यह ज़रूरी नहीं है। यह एक सेवा भी हो सकता है, जिसका एक उपयोगी प्रभाव होता है और जिसे बेचा जाता है। यह उपयोगी प्रभाव उसमें मूल्य पैदा करता है और चूँकि उसे बेचने के लिए पैदा किया गया है, इसलिए उसमें एक विनिमय-मूल्य भी है और इसलिए वह भी एक माल है। मिसाल के तौर पर, परिवहन की सेवा कोई वस्तु नहीं पैदा करती है। वह एक उपयोगी प्रभाव पैदा करती है। यह उपयोगी प्रभाव है वस्तुओं और लोगों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना। इस माल का उत्पादन (यानी स्थान में परिवर्तन) और इसका उपभोग (उपभोक्ता द्वारा वस्तुओं और/या व्यक्तियों का स्थान परिवर्तन) एक साथ ही होता है। लेकिन यह भी एक माल ही है, अगर इस सेवा को पैदा करने वाला उत्पादक उसे लोगों को बेचता है। इसीलिए मार्क्स ने कहा था, **"एक सेवा और कुछ नहीं बल्कि एक उपयोग-मूल्य का उपयोगी प्रभाव है।"** (कार्ल मार्क्स, 1992, पूँजी, खण्ड-1, पेंगुइन पब्लिकेशन, पृ. 299)। यदि यह सेवा, जिसका एक उपयोग-मूल्य है, विनिमय हेतु यानी बेचने के लिए पैदा की जा रही है न कि प्रत्यक्ष उपभोग के लिए, तो वह भी एक माल ही है।

अन्तर समझने के लिए कुछ मिसालों पर ग़ौर कीजिए :

– एक किसान परिवार द्वारा अपने खाने के लिए चावल का पैदा किया जाना माल उत्पादन नहीं है, लेकिन यदि वह चावल बाज़ार में बेचने के लिए पैदा कर रहा है, तो वह एक माल का उत्पादन है।

– यदि कोई बढ़ई अपने बैठने के लिए एक कुर्सी बनाता है तो वह केवल एक उपयोग-मूल्य का उत्पादन कर रहा है और इसलिए माल उत्पादन नहीं कर रहा है। लेकिन यदि यही कुर्सी वह बाज़ार में बेचने के लिए बना रहा है, तो यह एक माल का उत्पादन है।

– एक कार कम्पनी के कारख़ाने में बनायी जाने वाली कार एक माल है क्योंकि इसका उत्पादन कार कम्पनी का मालिक ख़ुद उसे चलाने के लिए नहीं कर रहा है, बल्कि उसे बाज़ार में बेचने के लिए कर रहा है।

– यदि किसी परिवार में कोई परिवार का सदस्य घर में साफ़-सफ़ाई की सेवा प्रदान कर रहा है, तो यह एक ऐसी सेवा का उत्पादन है जो कि माल नहीं है। लेकिन यदि यही सेवा वह बाज़ार से ख़रीदता है और किसी मज़दूर को इस काम के लिए भाड़े पर रखता है, तो वह माल में तब्दील हो गयी क्योंकि वह कामगार अपने प्रत्यक्ष उपभोग हेतु इस सेवा का उत्पादन नहीं कर रहा है, बल्कि उसे उस परिवार को बेचने के लिए उसका उत्पादन कर रहा है।

इन उदाहरणों के ज़रिए हम माल और महज़ उपयोग-मूल्य के रूप में पैदा होने वाली वस्तुओं या सेवाओं में अन्तर कर सकते हैं। **मानवीय श्रम के वे उत्पाद जो प्रत्यक्ष उपभोग हेतु नहीं बल्कि बेचने के लिए पैदा किये जाते हैं, उन्हें हम माल कहते हैं। ये उत्पाद कोई वस्तु हो सकते हैं या फिर सेवा हो सकते हैं। हर माल में ये दोनों ही गुण होने चाहिए, यानी उपयोग-मूल्य और विनिमय-मूल्य।** अगर ऐसी चीज़ या सेवा की कोई उपयोगिता ही नहीं है, तो न तो कोई उसका उपयोग करना चाहेगा और न ही उसे ख़रीदना चाहेगा। यानी हर विनिमय-मूल्य का वाहक कोई उपयोग-मूल्य ही हो सकता है। लेकिन हर उपयोगी वस्तु माल नहीं होती है। कोई वस्तु या सेवा तभी माल में तब्दील हो सकती है, जबकि उसे बेचने-ख़रीदने के लिए बनाया जाता हो।

क्या इतिहास में ऐसे दौर थे जबकि आम तौर पर वस्तुओं का विनिमय-मूल्य नहीं होता था, केवल उपयोग-मूल्य ही होता था? जी हाँ! वस्तुओं का उत्पादन प्रत्यक्ष उपभोग के लिए नहीं बल्कि विनिमय के लिए हो, इसके लिए समाज में श्रम विभाजन का एक निश्चित स्तर विकसित होना ज़रूरी होता है। इसे हम **सामाजिक श्रम विभाजन** कहते हैं। ज़ाहिर है, जिस समाज में या समुदाय में सभी लोग एक ही वस्तु या समान वस्तुओं का उत्पादन कर रहे हों, वहाँ विनिमय की, यानी बेचने-ख़रीदने की कोई आवश्यकता नहीं होगी। किसी दुग्ध-उत्पादक यानी ग्वाले के पास किसी अन्य दुग्ध-उत्पादक से विनिमय करने के लिए कुछ भी नहीं होगा। भला वह दूध का दूध से विनिमय क्यों करेगा? इसलिए विनिमय की शुरुआत तभी हो सकती है जबकि श्रम के सामाजिक विभाजन की एक निश्चित मंज़िल का विकास हो चुका हो। चाहे यह एक समुदाय के भीतर उत्पादक शक्तियों के विकास और लोगों के अलग-अलग वस्तुओं के उत्पादन में लगने के साथ हुआ हो, या फिर अलग-अलग वस्तुएँ पैदा करने वाले समुदायों के आपस में सम्पर्क में आने के साथ हुआ हो, लेकिन इतना

तय है कि विनिमय के पैदा होने, व्यापार के पैदा होने और बाज़ार के पैदा होने की शुरुआत केवल तभी हो सकती है जब समाज में श्रम का विभाजन हुआ हो। जब तक समाज में श्रम का यह सामाजिक विभाजन नहीं होगा, यानी जब तक अलग-अलग लोग या लोगों के समूह अलग-अलग वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन नहीं करेंगे, तब तक विनिमय, क्रय-विक्रय, व्यापार, बाज़ार आदि की शुरुआत नहीं हो सकती है। **इतिहास में ऐसे दौर भी थे जब सामाजिक श्रम विभाजन नहीं हुआ था, या बेहद आदिम स्तर पर था। उस समय विनिमय की शुरुआत नहीं हुई थी। उस समय वस्तुओं का उत्पादन केवल उपयोग-मूल्य के रूप में ही होता था।** विशेष तौर पर, आदिम क़बीलाई समाज में ऐसी ही स्थिति थी।

लेकिन उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ श्रम का सामाजिक विभाजन हुआ और विनिमय की शुरुआत हुई। इसके साथ, कई वस्तुओं और सेवाओं के प्रत्यक्ष उपभोग हेतु उत्पादन के साथ-साथ विविध वस्तुओं का, मुख्यत: और मूलत:, विनिमय हेतु उत्पादन शुरू हुआ और इसके साथ उनका विनिमय-मूल्य भी पैदा हुआ और वे माल में तब्दील हो गयीं। इसके साथ ही माल उत्पादन की शुरुआत हुई। **जिस समाज में वस्तुओं व सेवाओं की भारी बहुसंख्या माल में तब्दील हो जाती है, प्रत्यक्ष उत्पादकों की श्रमशक्ति स्वयं माल में तब्दील हो जाती है और माल उत्पादन प्रभुत्वशाली बन जाता है, उसे ही हम पूँजीवादी समाज कहते हैं।**

लेकिन माल उत्पादन पूँजीवादी समाज के साथ ही अस्तित्व में नहीं आया था। बल्कि प्राचीन काल में आदिम क़बीलों के भीतर ही बेहद आरम्भिक क़िस्म के विनिमय की शुरुआत हो चुकी थी और आदिम क़बीलों के विघटन और दास समाज समेत पहले वर्ग समाज के उद्भव और विकास की मंज़िल आने तक माल उत्पादन काफ़ी विकसित हो चुका था। लेकिन अभी माल उत्पादन प्रभुत्वशाली उत्पादन नहीं बना था और उसके साथ कई अन्य उत्पादन के स्वरूप मौजूद थे, जहाँ उत्पादक वर्ग द्वारा या फिर उनको लूटने वाले शासक-शोषक वर्ग द्वारा प्रत्यक्ष उपभोग हेतु वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन होता था और उत्पादन के ये रूप अभी समाज में माल उत्पादन की तुलना में ज़्यादा महत्व रखते थे। मसलन, दास समाज और सामन्ती समाज में भी माल उत्पादन मौजूद था, लेकिन अभी अन्य प्रकार के उत्पादन उसके साथ मौजूद ही नहीं थे, बल्कि उससे

(पेज 12 पर जारी)

माल, उपयोग-मूल्य, विनिमय-मूल्य और मूल्य

(पेज 11 से आगे)

ज़्यादा महत्व रखते थे। इसलिए माल उत्पादन अभी उत्पादन के अन्य रूपों के मुक़ाबले ज़्यादा प्रभावी नहीं हुआ था और इसलिए इन समाजों में, विशेष तौर पर दास समाज में, माल उत्पादन के अच्छे-ख़ासे विकास के बावजूद वह अभी प्रभुत्वशाली उत्पादन पद्धति में तब्दील नहीं हुआ था, श्रमशक्ति अभी स्वयं माल में तब्दील नहीं हुई थी और इसलिए अभी पूँजीवादी माल उत्पादन नहीं पैदा हुआ था। इस प्रकार के माल उत्पादन को **साधारण माल उत्पादन** कहा जाता है।

पूँजीवादी समाज में भी हरेक वस्तु और सेवा माल के रूप में नहीं पैदा होती है। जैसे कि किसानों द्वारा किये जाने वाले उत्पादन का वह हिस्सा जो उनके व उनके परिवार द्वारा प्रत्यक्ष उपभोग के लिए इस्तेमाल किया जाता है। यह हिस्सा आज बेहद छोटा है क्योंकि समस्त खेती उत्पादन का 90 फ़ीसदी हिस्सा अब बेचने योग्य बेशी यानी विपणन-योग्य बेशी की श्रेणी में आता है। एक छोटा ही सही लेकिन हिस्सा है, जो केवल उपयोग-मूल्य के रूप में ही पैदा किया जाता है। दूसरे क़िस्म के उत्पाद व सेवाएँ जो माल में तब्दील नहीं होते, वे सरकारी सार्वजनिक वितरण का अंग होते हैं, चाहे वह सरकारी स्कूलों में निशुल्क शिक्षा हो, निशुल्क अनाज वितरण हो, या अन्य कोई सेवा या वस्तु। इसके अलावा, पूँजीवादी समाज में घरों के भीतर परिवार के सदस्यों द्वारा जो घरेलू काम होता है, वह भी माल उत्पादन की श्रेणी में नहीं आता क्योंकि उसे बेचा-ख़रीदा नहीं जाता। वह निश्चित तौर पर उपयोगी होता है और किसी न किसी उपयोगी वस्तु या सेवा का उत्पादन करता है। लेकिन उसका कोई विनिमय-मूल्य नहीं होता क्योंकि वह विनिमय हेतु नहीं पैदा किया जाता है। लेकिन इस प्रकार के सारे उत्पाद व सेवाएँ पूँजीवादी समाज के कुल उत्पादन का छोटा हिस्सा होते हैं, जबकि बड़ा हिस्सा बेचने-ख़रीदने हेतु पैदा की जा रही वस्तुएँ व सेवाएँ होती हैं, यानी माल होती हैं।

अब थोड़ा और गहराई में चलते हैं।

विनिमय-मूल्य क्या है? किसी वस्तु द्वारा अन्य वस्तुओं के साथ विनिमय होने का गुण। लेकिन कोई भी विनिमय एक निश्चित अनुपात में ही हो सकता है। विनिमय-मूल्य हमें और कुछ नहीं बताता सिवाय इसके कि, मिसाल के तौर पर, दो लीटर दूध के साथ कितने किलोग्राम चावल का विनिमय होगा, या दो मीटर कपड़े के साथ कितने किलोग्राम गेहूँ का विनिमय होगा, आदि। लेकिन दो वस्तुओं का आपस में एक निश्चित अनुपात में विनिमय हो सके, इसके लिए उनमें कुछ साझा होना ज़रूरी है, कुछ तुलनीय होना ज़रूरी है। क्योंकि एक निश्चित मात्रा में दो वस्तुओं के विनिमय को निर्धारित करने के लिए इन दो वस्तुओं को पैदा करने वाले उत्पादक उनमें मौजूद किसी साझा चीज़ की तुलना किये बिना यह कार्य कर ही नहीं सकते हैं। अब, दो लीटर दूध और तीन किलोग्राम चावल में क्या साझा है? या फिर, दो मीटर कपड़े और चार किलोग्राम गेहूँ में क्या साझा है? ज़ाहिरा तौर पर, इनके भौतिक गुणों में या इनके उपयोग-मूल्य में अपने आप में कुछ साझा नहीं है। जैसा कि मार्क्स ने दिखाया है, प्राचीन ग्रीक दार्शनिक अरस्तू ने ही बता दिया था कि वस्तुओं के विनिमय के लिए उनमें कोई ऐसी साझा चीज़ होनी चाहिए जिसकी तुलना की जा सके। वह साझा चीज़ क्या है?

वह साझा चीज़ है सभी मालों का मानवीय श्रम का उत्पाद होना। जो बात सभी मालों को आपस में विनिमय योग्य बनाती है वह है उन सभी का मानवीय श्रम के द्वारा पैदा होना। किसी भी माल के उत्पादन में जितना मानवीय श्रम लगा होता है, वही उसका मूल्य तय करता है और विनिमय-मूल्य अपने आप में कुछ भी नहीं बल्कि दो मालों के मूल्यों का अनुपात है। मसलन, अगर एक मीटर कपड़ा बनाने में 4 घण्टे का मानवीय श्रम लगता है और 1 लीटर दूध के उत्पादन में 1 घण्टे का मानवीय श्रम लगता है, तो एक मीटर कपड़े के बदले 4 लीटर दूध का विनिमय होगा। निश्चित तौर पर, जब पहली बार संयोग के तौर पर एक क़बीले के लोगों ने कोई दूसरी वस्तु बनाने वाले किसी दूसरे क़बीले से अपनी वस्तु का विनिमय किया होगा, तो उन्होंने उनमें लगे मानवीय श्रम का सटीकता के साथ आकलन नहीं किया होगा। लेकिन जब ये विनिमय बार-बार दुहराया जायेगा, तो निश्चित ही दोनों क़बीले के लोग अपने उत्पाद में लगे श्रम की मात्रा का आकलन करने की शुरुआत करेंगे और उसके आधार पर ही अपने उत्पादों के विनिमय के अनुपात को तय करेंगे।

लेकिन हम मालों के मूल्य के निर्धारण के दौरान किस प्रकार के मानवीय श्रम का आकलन करते हैं? जब हम दो प्रकार के मालों, मसलन कपड़ा और दूध, की बात करते हैं, तो उनमें लगने वाले विशिष्ट प्रकार के श्रम की तुलना सम्भव नहीं है। कपड़ा बनाने में एक अलग प्रकार का ठोस विशिष्ट श्रम लगता है, जबकि दूध पैदा करने में अलग प्रकार का ठोस विशिष्ट श्रम लगता है। इन दोनों में भला कैसे तुलना हो सकती है? इसी प्रकार हर अलग प्रकार के माल के उत्पादन में अलग-अलग प्रकार के विशिष्ट ठोस श्रम का व्यय होता है। इसे हम मूर्त श्रम कहते हैं, जिसका और कोई अर्थ नहीं है, बल्कि यह है कि यह एक विशिष्ट प्रकार का ठोस श्रम है। हर माल के उत्पादन में अलग प्रकार के मूर्त श्रम लगते हैं और इनके आधार पर मालों की गुणात्मक और परिमाणात्मक तुलना सम्भव नहीं है। यानी मूर्त श्रम के आधार पर मालों के विनिमय हेतु आवश्यक गुणात्मक व परिमाणात्मक तुलना का काम सम्भव नहीं है क्योंकि अलग-अलग प्रकार के मूर्त श्रम वह साझा तुलनीय चीज़ नहीं हैं, जिनके आधार पर मालों के मूल्य और उनके बीच के अनुपात के रूप में उनके विनिमय-मूल्य को निर्धारित किया जा सके।

जब हम मालों का विनिमय करते हैं, तो हम उनके उत्पादन में लगे मूर्त श्रमों को नज़रन्दाज़ करते हैं और उसमें लगे श्रम को सामान्य रूप में मानवीय सामाजिक श्रम के रूप में देखते हैं। **इसका क्या अर्थ है?** इसका अर्थ यह है कि हम इसे आम तौर पर मानवीय श्रमशक्ति का व्यय मानते हैं। दूसरे शब्दों में, हम उसे आम तौर पर इन्सानी मेहनत, यानी उत्पादक की मानसिक व शारीरिक ऊर्जा के व्यय के रूप में देखते हैं। इसे एक अन्य तरीक़े से भी समझ सकते हैं। हम किसी भी समाज के समूचे उत्पादन को उस समाज के कुल श्रम की पैदावार के तौर पर समझ सकते हैं। ऐसे में, हरेक उत्पाद कुल सामाजिक श्रम के एक हिस्से की नुमाइन्दगी करता है। कुल सामाजिक श्रम के तौर पर हम सामान्य रूप में मानवीय सामाजिक श्रम को देखते हैं, पूरे समाज की कुल श्रमशक्ति के व्यय को देखते हैं, न कि अलग-अलग प्रकार के विशिष्ट मूर्त श्रमों को। संक्षेप में कहें तो हम तमाम प्रकार के मूर्त श्रमों के विशिष्ट, ठोस चरित्र को नज़रन्दाज़ करते हैं और उससे अमूर्तन करते हुए, हर माल में लगे मानवीय श्रम को आम तौर पर मानवीय सामाजिक श्रम और मानवीय श्रमशक्ति के व्यय के रूप में देखते हैं। यानी हम उसे **अमूर्त श्रम** के रूप में देखते हैं। यह अमूर्त श्रम ही है जो कि मालों में मौजूद वह साझा, तुलनीय वस्तु है जिसकी गुणात्मक व परिमाणात्मक तुलना के आधार पर दो मालों का एक निश्चित अनुपात में विनिमय सम्भव होता है।

मूर्त श्रम और अमूर्त श्रम को लेकर भ्रमित होने की आवश्यकता नहीं है। यह दो प्रकार के अलग श्रम नहीं हैं, जो अलग-अलग समय और स्थान पर होते हों। जो मूर्त श्रम मालों के उत्पादन में, यानी ऐसी वस्तुओं या सेवाओं के उत्पादन में लगते हैं जिन्हें विनिमय हेतु ही बनाया जा रहा हो, उन्हें हम अमूर्त श्रम के रूप में देख सकते हैं। जब विनिमय की आवश्यकता पैदा होती है, तभी उत्पादकों को अपने मूर्त श्रमों से अमूर्तन कर उसे आम तौर पर मानवीय श्रमशक्ति के व्यय के रूप में देखने की आवश्यकता पड़ती है। जब विनिमय होता है, तो ही श्रम का अमूर्तन करने की आवश्यकता पैदा होती है। क्योंकि इस आवश्यकता के बिना मूर्त श्रमों से अमूर्तन कर अमूर्त श्रम तक पहुँचने की कोई आवश्यकता नहीं होगी। **वजह यह कि यह विनिमय ही है जिसके लिए एक तुलनीय चीज़ के तौर पर हमें किसी वस्तु या सेवा में लगे श्रम को आम तौर पर मानवीय सामाजिक श्रम या मानवीय श्रमशक्ति के व्यय के रूप में देखने की ज़रूरत होती है।** यहाँ चूँकि हम अलग-अलग प्रकार के मूर्त श्रमों से अमूर्तन करते हैं, इसलिए वस्तुएँ हमारे लिए अब केवल मानवीय श्रम का उत्पाद रह जाती हैं। मूर्त श्रम अलग-अलग मालों में अलग-अलग प्रकार के उपयोग-मूल्य को जन्म देते हैं। इन अलग-अलग उपयोग-मूल्यों के आधार पर विनिमय नहीं सम्भव होता है क्योंकि वे तुलनीय नहीं होते हैं। लेकिन जब हम मालों को महज़ मानवीय श्रमशक्ति के व्यय के उत्पाद यानी वस्तु रूप ग्रहण कर चुके मानवीय सामाजिक श्रम की एक निश्चित मात्रा के तौर पर देखते हैं, तो उनके बीच के सारे विशिष्ट अन्तर समाप्त हो जाते हैं। अब वे एक ही *सामाजिक पदार्थ (social substance)*, यानी साधारण मानवीय सामाजिक श्रम की विभिन्न मात्राएँ मात्र रह जाती हैं। मार्क्स लिखते हैं :

> "अगर हम मालों के उपयोग-मूल्य को नज़रन्दाज़ कर दें, तो उनका केवल एक ही गुण बचता है, कि वे सभी मानवीय श्रम के उत्पाद हैं। लेकिन हमारे हाथों में श्रम के उत्पाद भी रूपान्तरित हो जाते हैं। अगर हम उनके उपयोग-मूल्य से अमूर्तन करते हैं, तो हम उन भौतिक संघटकों से भी अमूर्तन करते हैं, जो कि उसे एक उपयोग-मूल्य बनाते हैं। अब वह एक टेबल, एक घर, या सूत का एक टुकड़ा या कोई अन्य उपयोगी वस्तु नहीं रह गया। ये सभी इन्द्रियों से महसूस किये जा सकने वाले गुण अब ग़ायब हो जाते हैं। अब यह बढ़ई, मिस्त्री या सूत कातने वाले या किसी भी अन्य प्रकार के उत्पादक श्रम का उत्पाद नहीं रह गया। श्रम के उत्पादों के उपयोगी चरित्र के ग़ायब होने के साथ उसमें लगे विभिन्न प्रकार के श्रमों का उपयोगी चरित्र भी ग़ायब हो जाता है; इसका अर्थ होता है उनमें लगे श्रम के विभिन्न प्रकार के मूर्त रूपों का ग़ायब हो जाना। अब उन्हें अलग-अलग करके नहीं देखा जा सकता है, बल्कि वे सभी अब समान प्रकार के श्रम, यानी अमूर्त रूप में मानवीय श्रम, में अपचयित हो जाते हैं।" (कार्ल मार्क्स, 1992, *पूँजी*, खण्ड-1, पेंगुइन पब्लिकेशन, पृ. 128)

ज़ाहिर है, अमूर्त श्रम का प्रश्न ही तब आयेगा जब हम मालों के उत्पादन की बात कर रहे हों, सिर्फ़ उपयोग-मूल्य के रूप में वस्तुओं या सेवाओं के उत्पादन की बात नहीं। श्रम के अमूर्तन की आवश्यकता ही तभी पैदा होगी जब विनिमय की आवश्यकता होगी। अमूर्त श्रम का व्यय आम तौर पर मानवीय सामाजिक श्रम का व्यय है, जो हरेक माल और सेवा के उत्पादन में ख़र्च होता है, चाहे उसका ठोस रूप और विशिष्टता, यानी उसका मूर्त रूप, कुछ भी हो। **विशिष्ट प्रकार के मूर्त श्रम विशिष्ट प्रकार के उपयोग-मूल्य पैदा करते हैं, जबकि अमूर्त श्रम मूल्य पैदा करता है।** वास्तव में, माल का मूल्य और कुछ नहीं बल्कि वस्तु का आकार ले चुका अमूर्त श्रम है, या मार्क्स के शब्दों में, 'जमा हुआ अमूर्त श्रम' (congealed labour) है।

लेकिन अमूर्त श्रम को मापा कैसे जाता है? हम जानते हैं कि श्रम को श्रमकाल में ही मापा जा सकता है। लेकिन यहाँ हमारे सामने एक समस्या आती है। फ़र्ज़ करिए कि हम जूता उत्पादन के क्षेत्र के पाँच जूता उत्पादकों को लेते हैं जो समान प्रकार के जूते बनाते हैं। पहला उत्पादक एक जूते को बनाने में 3 घण्टे का वक़्त लेता है, दूसरा 4 घण्टे का, तीसरा 5 घण्टे का, चौथा 6 घण्टे का और पाँचवा 7 घण्टे का। यानी, पहले उत्पादक का 3 घण्टे का श्रम ख़र्च हुआ है, दूसरे का 4 घण्टे का, तीसरे का 5 घण्टे का, चौथे का 6 घण्टे का और पाँचवें का 7 घण्टे का। पहले उत्पादक के जूते का **श्रम-मूल्य** 3 घण्टे है जबकि पाँचवें के जूते का श्रम-मूल्य 7 घण्टे है। तो क्या समान प्रकार का जूता बाज़ार में पाँच अलग मूल्यों या क़ीमतों (जो, अभी आरम्भिक तौर पर इतना समझ लें, कि मूल्य की मौद्रिक अभिव्यक्ति है) में बिकेगा? नहीं! हम सभी जानते हैं कि यह मुमकिन नहीं है। ज़ाहिर है, उपभोक्ता को यदि समान प्रकार का जूता पाँच अलग क़ीमतों में मिलेगा तो वह सबसे सस्ता जूता ख़रीदेगा। इसलिए, अमूर्त श्रम को मापने के लिए हम अलग-अलग उत्पादकों द्वारा ख़र्च होने वाले श्रमकाल को, यानी व्यक्तिगत श्रमकाल को इस्तेमाल नहीं कर सकते हैं। किसी भी उत्पादन के क्षेत्र में हम **सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल** को श्रम की मात्रा को मापने के लिए इस्तेमाल करते हैं। वास्तव में, अमूर्त श्रम अपने आप में एक सामाजिक पदार्थ है और उसे व्यक्तिगत श्रमकाल से मापा ही नहीं जा सकता है। उसे सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल से ही मापा जा सकता है।

यह सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल क्या है? किसी भी उत्पादन के क्षेत्र में किसी भी समय मौजूद **उत्पादन की औसत स्थितियों** के आधार पर माल के उत्पादन में जितना समय लगता है, उसे हम सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल कहते हैं। उत्पादन की औसत स्थितियों से हमारा क्या मतलब है? उत्पादन की औसत स्थितियों से अर्थ

(पेज 13 पर जारी)

माल, उपयोग-मूल्य, विनिमय-मूल्य और मूल्य

(पेज 12 से आगे)

है उत्पादकता, कुशलता, तकनोलॉजी आदि का औसत स्तर। उत्पादन की औसत स्थितियों में किसी माल के उत्पादन में किसी उत्पादक को जितना समय लगता है, उसे ही हम सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल कहते हैं। सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल के अनुसार मापे जाने पर किसी भी माल के उत्पादन में अमूर्त श्रम की जो मात्रा लगती है, उसे हम उस माल के उत्पादन में लगा सामाजिक रूप से आवश्यक अमूर्त श्रम कहते हैं और यही उस माल के मूल्य को निर्धारित करता है। अब हम अपनी परिभाषा को थोड़ा परिष्कृत करते हैं : *किसी माल का मूल्य उसमें लगे मानवीय अमूर्त श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है जिसे सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल से मापा जाता है।* हमारे उपरोक्त उदाहरण में, यदि औसत स्थितियों में जूता उत्पादन क्षेत्र में जूते के उत्पादन में 5 घण्टे लगते हैं तो फिर माल को उसके सामाजिक या बाज़ार मूल्य पर बेचने पर पहले उत्पादक को कुछ अतिरिक्त मुनाफ़ा मिलेगा, दूसरे को उससे कम अतिरिक्त मुनाफ़ा मिलेगा, तीसरे को सामान्य औसत मुनाफ़ा मिलेगा क्योंकि उसकी उत्पादकता जूता उत्पादन के क्षेत्र की औसत उत्पादकता के बराबर है, चौथे और पाँचवें उत्पादक को नुक़सान होगा और यदि उन्हें जूता उत्पादन क्षेत्र में बने रहना है, तो कालान्तर में उन्हें भी अपनी उत्पादकता को बढ़ाना होगा। यह एक सेक्टर या उत्पादन के एक क्षेत्र के भीतर माल उत्पादकों के बीच होने वाली प्रतिस्पर्द्धा है। **उत्पादन के एक क्षेत्र के भीतर होने वाली इस प्रतिस्पर्द्धा के आधार पर माल का सामाजिक मूल्य या बाज़ार मूल्य पैदा होता है जो कि सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल के अनुसार तय होता है।** यह समझना आसान है कि अलग-अलग उत्पादकों के व्यक्तिगत श्रमकाल के अनुसार मालों का बाज़ार मूल्य या सामाजिक मूल्य नहीं पैदा हो सकता है क्योंकि विनिमय स्वयं एक सामाजिक प्रक्रिया है और विनिमय हेतु मूल्य का निर्धारण स्वयं एक सामाजिक प्रक्रिया के ज़रिए ही होता है।

अभी एक और समस्या रहती है, जिसके बारे में बात करना ज़रूरी है : **कुशल श्रम और अकुशल श्रम की समस्या।**

जब हम अमूर्त श्रम की मात्रा द्वारा मूल्य के निर्धारण की बात करते हैं, तो हम साधारण या अकुशल श्रम की बात करते हैं या फिर जटिल या कुशल श्रम की? क्या कुशल श्रम का एक घण्टा अकुशल श्रम के एक घण्टे के बराबर होता है? क्या कुशल श्रमशक्ति का मूल्य अकुशल श्रमशक्ति के मूल्य के बराबर होता है? हम मेहनतकश अपने अनुभव से जानते हैं कि कुशल श्रमिक को ज़्यादा मज़दूरी मिलती है, जबकि अकुशल श्रमिक को कम। हम जानते हैं कि कुशल श्रम का एक घण्टा अधिक मूल्य पैदा करता है और अकुशल श्रम का एक घण्टा उससे कम मूल्य पैदा करता है। तो फिर मूल्य का निर्धारण किस प्रकार के श्रम से होता है? **मूल्य का निर्धारण साधारण/अकुशल श्रम से होता है, क्योंकि कुशल श्रम के एक घण्टे को अकुशल श्रम के घण्टों की एक निश्चित मात्रा में बदला जा सकता है और एकदम सटीकता और वैज्ञानिकता के साथ बदला जा सकता है।** राजनीतिक अर्थशास्त्री हमेशा ही इस काम को अंजाम देते हैं। कैसे? हम जानते हैं कि अकुशल श्रमिक वह है जिसकी कुशलता उस स्तर की होती है जो कि समाज का कोई भी व्यक्ति बिना किसी विशेष प्रशिक्षण या ट्रेनिंग के एक निश्चित समय के उत्पादक श्रम के अनुभव के बाद हासिल कर सकता है। कुशल श्रमिक वह होता है जिसकी कुशलता का स्तर किसी न किसी प्रकार की ट्रेनिंग या प्रशिक्षण के बाद ही सम्भव होता है। यह प्रशिक्षण क्या है? यह प्रशिक्षण की प्रक्रिया वास्तव में कौशल का उत्पादन है, जिसमें स्वयं अन्य श्रमशक्तियाँ ख़र्च होती हैं। मिसाल के तौर पर, अगर आपने कभी आईटीआई या पॉलीटेक्निक में किसी प्रकार के उत्पादक श्रम के कौशल को सीखा है, तो उसे सिखाने के लिए शिक्षकों, प्रशिक्षकों, प्रयोगशाला सहायकों आदि का श्रम लगा होता है। इनके श्रम से पैदा होने वाला शिक्षण व प्रशिक्षण स्वयं एक माल होता है, जिसे आप फ़ीस देकर ख़रीदते हैं। जब ट्रेनिंग प्राप्त करने के बाद आप किसी स्थान पर माल के उत्पादन में लगते हैं, तो आपकी श्रमशक्ति एक *यौगिक या जटिल श्रमशक्ति* के रूप में उत्पादन की प्रक्रिया में सक्रिय होती है। इसका अर्थ यह है कि आपकी श्रमशक्ति के ज़रिए वे अन्य श्रमशक्तियाँ भी उत्पादन की इस प्रक्रिया में भागीदारी करती हैं, जो कि आपके कौशल के उत्पादन में ख़र्च हुई हैं। नतीजतन, कौशल के उत्पादन में ख़र्च हुई श्रमशक्तियों द्वारा प्रदत्त सामाजिक श्रम द्वारा पैदा हुए मूल्य के आधार पर हम कुशल श्रम के एक घण्टे को साधारण श्रम के घण्टों की एक निश्चित संख्या में बदल सकते हैं। दूसरे शब्दों में, कौशल के उत्पादन में ख़र्च श्रमशक्ति के आधार पर आप एक ऐसा **गुणक** या **कोफ़िशियण्ट** निकाल सकते हैं, जिससे गुणा करके आप जटिल/कुशल श्रम के एक घण्टे को साधारण/अकुशल श्रम के घण्टों की एक निश्चित संख्या में तब्दील कर सकते हैं। मिसाल के तौर पर, एक राजमिस्त्री के श्रम का एक घण्टा एक अकुशल निर्माण श्रमिक के श्रम के तीन घण्टे के बराबर हो सकता है। यह गणना बेहद वैज्ञानिक व सटीक तरीक़े से की जा सकती है और की जाती है। इसलिए कुशल और अकुशल श्रम का भेद मूल्य के निर्धारण में कोई समस्या नहीं पैदा करता है। हम जब मूल्य के निर्धारण में श्रम की मात्रा का आकलन करते हैं, तो हम अमूर्त साधारण सामाजिक श्रम का आकलन करते हैं। इसके लिए हमें कुशल श्रम को उपरोक्त गुणक/कोफ़िशियण्ट के आधार पर अकुशल श्रम में बदलना होता है। **इस प्रक्रिया को 'जटिल श्रम का साधारण श्रम में अपचयन' कहा जाता है।** मार्क्स इसके बारे में लिखते हैं :

> "अधिक जटिल श्रम की गणना केवल *सघनीकृत*, या कहें कि *गुणित* साधारण श्रम के रूप में ही हो सकती है, जिससे कि जटिल श्रम की कम मात्रा को साधारण श्रम की अधिक मात्रा के बराबर माना जाता है। अनुभव दिखलाता है कि यह अपचयन लगातार होता रहता है... विभिन्न प्रकार के श्रमों को उनकी माप की इकाई के तौर पर साधारण श्रम में जिस अनुपात में अपचयित किया जाता है, उसका निर्धारण एक सामाजिक प्रक्रिया के ज़रिए होता है जो उत्पादकों के पीठ पीछे लगातार जारी रहती है।" (कार्ल मार्क्स, 1992, *पूँजी*, खण्ड-1, पेंगुइन पब्लिकेशन, पृ. 135)

जैसा कि हम देख सकते हैं, कुशल व अकुशल श्रम का अन्तर अमूर्त श्रम की मात्रा द्वारा मूल्य के निर्धारण में कोई समस्या नहीं पैदा करता है। यह कोई काल्पनिक विचार नहीं है जिससे वास्तविकता निर्धारित होती हो, बल्कि वास्तविकता के अध्ययन के आधार पर ही स्मिथ व रिकार्डो जैसे क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्रियों और सबसे महत्वपूर्ण रूप में मार्क्स ने यह सिद्धान्त निकाला।

अब हम आख़िरी समस्या पर आते हैं, जो मूल्य के श्रम-सिद्धान्त से सीधे-सीधे तो नहीं जुड़ती लेकिन उसे समझने में महत्व रखती है। इस पर हम आगे भी बात करेंगे लेकिन अभी संक्षेप में उस पर चर्चा उपयोगी होगी।

सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम का हम दो अर्थों में इस्तेमाल करते हैं। पहला अर्थ वह है जिस पर हमने ऊपर चर्चा की है। यानी, अमूर्त श्रम की वह मात्रा जो कि किसी माल के उत्पादन के लिए आवश्यक है, उसका मूल्य निर्धारित करती है और जिसे सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल से नापा जाता है। लेकिन **सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम का एक दूसरा अर्थ भी है।** समूचे समाज के स्तर पर श्रम की वह मात्रा जो कि समाज की आवश्यकता के अनुसार निश्चित मालों को निश्चित मात्राओं में उत्पादित करती है उसे हम सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम कहते हैं। माल उत्पादक समाज में विनिमय की मध्यस्थता के ज़रिए ही समूचा सामाजिक उपभोग होता है। यहाँ सभी उत्पादक मिलकर यह तय नहीं करते कि समाज में किन-किन मालों की किन-किन मात्राओं में आवश्यकता है और न ही वे उसके अनुसार समूचे सामाजिक श्रम का उत्पादन की विभिन्न शाखाओं में अलग-अलग मात्राओं में मिलकर योजनाबद्ध तरीक़े से आबण्टन करते हैं। **यानी सामाजिक श्रम विभाजन सचेतन तौर पर संगठित नहीं किया जाता है।** माल उत्पादक समाज में अलग-अलग निजी माल उत्पादक अपने उत्पादन के साधनों व श्रमशक्ति के साथ उत्पादन करते हैं और आपस में प्रतिस्पर्द्धा करते हैं, जो कि बाज़ार में होती है। किसी को यह नहीं पता होता है कि उसके माल के लिए समाज में पर्याप्त ख़रीदार मिलेंगे या नहीं। यह एक अराजक प्रक्रिया होती है जिसमें सामाजिक आवश्यकताओं का वैज्ञानिक तौर पर मूल्यांकन नहीं किया जाता और सामाजिक श्रम विभाजन को उसके अनुसार नहीं तय किया जाता है। नतीजतन, कभी किसी माल का ज़रूरत से ज़्यादा तो कभी ज़रूरत से कम उत्पादन होता है। इसे एक उदाहरण से समझें। 1970 और 1980 के दशक में भारत में टेक्सटाइल उद्योग में एक परिवर्तन आ रहा था। बड़ी पारम्परिक टेक्सटाइल मिलों में सूती वस्त्रों का बड़े पैमाने पर उत्पादन कई दशकों से चल रहा था। लेकिन इस दौर में पावर लूम का आना और सिंथेटिक वस्त्रों का उत्पादन शुरू हुआ जो अधिक उत्पादकता रखता था। नतीजतन, ये सिंथेटिक वस्त्र अधिक सस्ते और टिकाऊ थे। लिहाज़ा, उनकी माँग भी समाज में बढ़ने लगी। परिणामस्वरूप, उनकी आपूर्ति उनकी माँग से कम थी। वहीं पुराने पारम्परिक टेक्सटाइल उद्योग में पैदा होने वाले सूती वस्त्रों की माँग में कमी आने लगी। इसका नतीजा यह हुआ कि उनकी क़ीमतें गिरने लगीं और यहाँ तक कि बहुत-सा माल बेचा भी नहीं जा सका। **जो माल बिक नहीं सका, उसे समाज ने सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम के उत्पाद के तौर पर स्वीकार नहीं किया।** इसके साथ ही टेक्सटाइल उद्योग में पूँजी लगाने वाले पूँजीपतियों ने अपनी पूँजी का एक हिस्सा दूसरे उद्योगों और पावरलूम व सिंथेटिक वस्त्रों के उत्पादन की ओर स्थानान्तरित कर दिया। पुराने टेक्टसटाइल उद्योग से नये प्रकार के कपड़ा उद्योग में पूँजी के प्रवाह के साथ सामाजिक श्रम की एक मात्रा भी नये कपड़ा उद्योगों की ओर स्थानान्तरित हो गयी। यानी, पुराने टेक्सटाइल उद्योग में जो श्रम लग रहा था वह सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम से ज़्यादा था और उसका एक हिस्सा व्यर्थ हो रहा था, जिसके उत्पाद को बाज़ार में कोई ख़रीदार नहीं मिल रहा था। नतीजतन, सामाजिक श्रम विभाजन, यानी कि सामाजिक श्रम के उत्पादन के अलग-अलग सेक्टरों में आबण्टन भी बदल गया। नये प्रकार के कपड़ा उद्योग के माल की ऊँची क़ीमतें एक प्रकार से समाज द्वारा उसे दिया जाने वाला प्रोत्साहन था, ताकि वह पूँजी और श्रम को पुराने टेक्सटाइल उद्योग से आकर्षित करे और इसके साथ सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम के अनुसार श्रम विभाजन को बदले। एक माल उत्पादक समाज में सामाजिक श्रम विभाजन इसी प्रकार से अराजक गति से बदलता है। कुछ मालों को समाज सामाजिक रूप से आवश्यक नहीं मानता है, उनका मूल्य वास्तवीकृत नहीं हो पाता है, वह व्यर्थ हो जाते हैं और उन मालों के उत्पादन के क्षेत्र में लगे श्रम को सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम की मान्यता नहीं प्राप्त होती है। इस तरह यह मूल्य का नियम ही होता है, जो कि एक माल उत्पादक समाज में सामाजिक श्रम विभाजन को निर्धारित करता है और यह तय करता है कि कौन-से श्रम सामाजिक रूप से आवश्यक हैं और कौन-से श्रम सामाजिक रूप से अनावश्यक हैं।

संक्षेप में, मूल्य का मार्क्सवादी श्रम-सिद्धान्त बताता है कि हर वह वस्तु या सेवा माल है, जिसका उत्पादन विनिमय के लिए होता है। अतः माल वह वस्तु या सेवा है जिसका एक उपयोग-मूल्य और एक विनिमय-मूल्य होता है। लेकिन विनिमय-मूल्य वास्तव में कुछ नहीं बल्कि विनिमय होने वाले मालों के मूल्यों का अनुपात होता है और उन्हीं की अभिव्यक्ति होता है। असल चीज़ उपयोग-मूल्य और मूल्य को समझना है। किसी भी माल का मूल्य उसके उत्पादन में लगने वाले अमूर्त श्रम की मात्रा से तय होता है, जिसे सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल में नापा जाता है। मूल्य और कुछ नहीं बल्कि वस्तुकृत या 'जमा हुआ श्रम' है। यह मूल्य ही मालों की बाज़ार-क़ीमत का आधार होता है और बाज़ार-क़ीमतें इन्हीं मूल्यों के इर्द-गिर्द मण्डराती हैं, हालाँकि हर माल का मूल्य और उसकी बाज़ार-क़ीमत आम तौर पर बराबर नहीं होती है। इस बात को हम आगे समझेंगे।

मूल्य का श्रम-सिद्धान्त अपने वैज्ञानिक रूप में मार्क्स ने विकसित किया। मार्क्स ने एडम स्मिथ और डेविड रिकार्डो के मूल्य के श्रम सिद्धान्त की कमियों-ख़ामियों को दूर किया और स्पष्ट किया कि पूँजीपति वर्ग का मुनाफ़ा और कुछ नहीं है, बल्कि मज़दूर वर्ग द्वारा पैदा किये जाने वाले सामाजिक अधिशेष का ही एक रूप है। आगे हम देखेंगे कि एडम स्मिथ और डेविड रिकार्डो के मूल्य के श्रम सिद्धान्त की कमियों को मार्क्स ने किस प्रकार दूर किया और किस प्रकार पूँजीपति वर्ग के मुनाफ़े के स्रोत को उजागर किया।

(अगले अंक में जारी)

मज़दूरों की फ़िल्म समीक्षा

गहरी निराशा, पराजयबोध और विकल्पहीनता से गुज़रते मज़दूर की कहानी : फ़िल्म 'मट्टो की साइकिल'

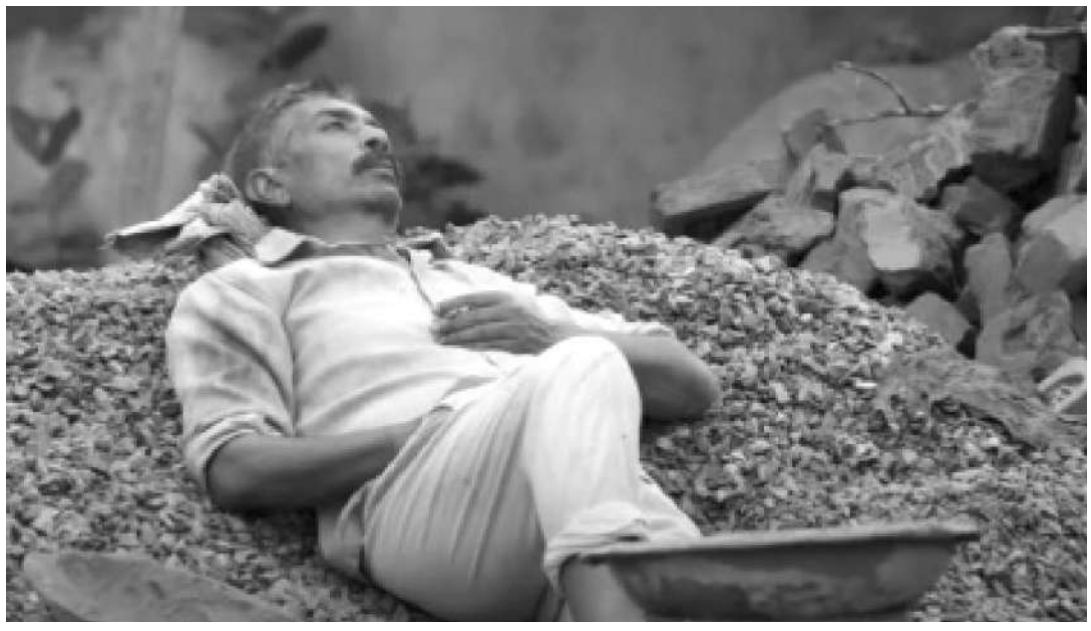

– आशीष

अभी हाल ही में 'मट्टो की साइकिल' नामक एक फ़िल्म रिलीज़ हुई। इस फ़िल्म की कहानी निर्माण क्षेत्र में काम करने वाले मट्टो नाम के एक मज़दूर के जीवन पर केन्द्रित है। मट्टो गाँव में ही पत्नी और दो बेटियों के साथ रहता है। उसके परिवार की आर्थिक हालत बहुत ख़राब होती है, जैसा कि आम तौर पर सभी मज़दूरों के साथ होता है। वह अपने घर का अकेला कमाने वाला आदमी है। मट्टो अपनी बीस साल पुरानी जर्जर साइकिल से रोज़ बग़ल के शहर में बेलदारी का काम करने जाता है। असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले एक मज़दूर के साथ जिस प्रकार से ठेकेदार, मालिक और मध्यम वर्ग से आने वाला व्यक्ति बर्ताव करता है उसकी कुछ झलकियाँ आप इस फ़िल्म में देख सकते हैं। मट्टो के जीवन में जब भी ऐसी स्थिति आती है जब उन्हें थोड़े पैसे की ज़रूरत पड़ती है तो उसे ठेकेदार, सूदख़ोर आदि के आगे हाथ जोड़कर निहोरा मानना पड़ता है, जैसे पत्नी के बीमार होने पर, बेटी की शादी के लिए या नयी साइकिल ख़रीदने के लिए। शुरू से अन्त तक फ़िल्म की कहानी मट्टो के चरित्र के आसपास चलती हुई अन्य किरदारों जैसे कि मट्टो की पत्नी और बेटियों, वकील, साइकिल मैकेनिक, ग्राम प्रधान, ठेकेदार, डॉक्टर आदि के संवादों के ज़रिए कथावस्तु का निर्माण करती है। अन्तिम दृश्यों में आप देखते हैं कि बहुत जद्दोजहद के बाद ख़रीदी गयी मट्टो की नयी साइकिल को लूट लिया जाता है और बेबस मट्टो दौड़ता फिरता है, न पुलिस उसकी मदद करती है और न ही चुनाव के समय मीठी बातें करने वाला ग्राम प्रधान। मट्टो की निराशा और थकान के साथ फ़िल्म का अन्त होता है।

फ़िल्म के निर्देशक **एम. गनी** द्वारा मज़दूर-मेहनतकश जीवन के समूचे परिदृश्य को एक मज़दूर मट्टो के माध्यम से पेश करने के प्रयास की सराहना करते हुए इसे सर्वहारा वर्ग के नज़रिए से आलोचनात्मक विवेक के साथ देखने की ज़रूरत है। थोड़ी सराहना इसलिए करनी चाहिए क्योंकि जब पूँजीवादी फ़िल्म उद्योग की सारी फ़िल्में सुपरहीरो जैसे नायकों, अमीरज़ादों, अपराध और अप्रवासी भारतीयों की प्रेम कथाओं पर बन रही हैं, तो उसमें एक फ़िल्म ऐसी आयी है, जो कम-से-कम मज़दूर जीवन का एक चित्रण पेश कर रही है। लेकिन इस फ़िल्म के प्रति सर्वहारा कोई अनालोचनात्मक रुख़ भी नहीं अपना सकता है।

इस फ़िल्म को लेकर बुर्जुआ उदारपन्थी लोगों के अलावा मज़दूर और प्रगतिशील आन्दोलन की तरफ़ अपनी पक्षधरता रखने वाली आबादी का एक हिस्सा भी अनालोचनात्मक रुख़ अपनाते हुए इस फ़िल्म की प्रशंसा करते हुए लहालोट हो रहा है। किसी भी कलात्मक रचना, कहानी, नाटक, सिनेमा, पेंटिंग्स आदि को आलोचनात्मक विवेक के साथ देखते हुए हमें इस बात पर ग़ौर करना चाहिए कि उक्त रचना लोगों के अवचेतन पर क्या प्रभाव छोड़ती है। एक सच्चे कलाकार का काम यथार्थ का वर्ग पक्षधर और ईमानदार चित्रण करना होता है और एक प्रगतिशील कलाकार जीवन के अनेक अन्तरविरोधों के ज़रिए यथार्थ का सृजन करते हुए और समाज की वर्तमान दिक़्क़तों के कारणों को समझते हुए आने वाले भविष्य में उसके सम्भव समाधान की ओर इशारा करता है या कम-से-कम अपने चित्रण से ही दर्शक को समाधान के विषय में सोचने के लिए बाध्य कर देता है। यथार्थ का केवल जस-का-तस चित्रण करने का विचार ही अवैज्ञानिक है क्योंकि यह सम्भव ही नहीं है। लेकिन यथार्थ के प्रति ईमानदारी और वफ़ादारी रखने वाला कलाकार सीमित तौर पर अपने बुर्जुआ या मध्यमवर्गीय पूर्वाग्रहों का सीमित तौर पर अतिक्रमण कर सकता है। लेकिन केवल सीमित तौर पर। दूसरी बात, केवल मज़दूर वर्ग की जीवन-स्थिति को कहानी का प्लॉट बनाने मात्र से कोई कहानी या फ़िल्म अपने आप में सर्वहारा यथार्थवादी रचना की श्रेणी में नहीं आ जाती, हमें इस बात को नहीं भूलना चाहिए।

मट्टो की साइकिल की कथावस्तु रूप को भेदकर अन्तर्वस्तु को नहीं पकड़ पाती और साथ ही जीवन के कई अन्तरविरोधों को पकड़ पाने में असफल सिद्ध होती है। इस फ़िल्म की कहानी में एकरेखीयता एवं ठहराव दिखलाई पड़ता है। गाँव की जिस ज़मीन पर मट्टो खड़ा है, वहाँ की आबादी का गुज़ारा बेलदारी मज़दूरी करके होता है। वह किसी गाँव के पास के छोटे शहर की चौहद्दी तक ही सीमित नहीं रहता है, वह वहाँ से निकलकर बड़े शहरों में जाकर अपने अस्तित्व को बचाने के लिए मज़दूरी करता है, शहर आकर उसकी पत्नी भी काम करने लगती है। लोग दरबदर हो जाते हैं, परिवार टूट जाता है। गाँव में रहने वाला कोई भूमिहीन मज़दूर या छोटे-मोटे ज़मीन के टुकड़े का मालिक अपने इलाक़े की चौहद्दियों से बाहर निकलता है। ज़िन्दगी ठहरती नहीं है आगे चलती है। इस कहानी के रचनाकार शहरी मध्यम वर्ग के नज़रिए से मज़दूरों के जीवन को देखते हैं इसलिए वह इस गति को समझ पाने में असफल होते हैं। फ़िल्म में जब तथाकथित लेबर चौक का दृश्य आता है तो सारे मज़दूर थकी-हारी हालत में दिखलाई पड़ते हैं। वास्तव में लेबर चौक पर भी सिर्फ़ परेशानी की हालत में लोग खड़े नहीं रहते हैं, वहाँ भी लोगों के बीच आपस में बातें होती हैं, अपनी हालत पर निराश होने के साथ-साथ उन्हें ग़ुस्सा आता है, वह हँसते भी हैं, परेशान भी होते हैं। इसलिए यहाँ पर फ़िल्मकार यथार्थ को केवल आंशिक तौर पर पकड़ पाया है और केवल एक मध्यमवर्गीय नज़रिए से। ये वर्गीय पूर्वाग्रह एक ईमानदार कलाकार के भी यथार्थ के दृश्यों के चुनाव को प्रभावित करते हैं। प्रातिनिधिक यथार्थ मात्रा में ज़्यादा हो यह ज़रूरी नहीं है, लेकिन वह परिवर्तन की सम्भावनाओं की ओर इशारा करता है। ऐसे में लेबर चौक के इस दृश्य के बारे में यह कहा जा सकता है कि कुछ प्रातिनिधिक सच्चाइयों को पकड़ने के बावजूद यह सच्चाई को सम्पूर्णता में और प्रातिनिधिक तौर पर नहीं पकड़ पाया है।

फ़िल्म के निर्देशक एम. गनी कहते हैं कि वह इस कहानी के माध्यम से हिन्दुस्तान को दिखाना चाहते हैं। फ़िल्म का नायक मट्टो बेबस और बेचारा है। फ़िल्म में आप देख सकते हैं बहुत कम मौक़े पर वह हँस पाता है। ऐसे में मट्टो परिस्थितियों का निष्क्रिय तत्व बन जाता है जो बस झेल रहा है और दुखी है। ऐसे भी मज़दूर हैं, यह सच है। यह भी सच है कि कला ऐसे मज़दूर का भी चित्रण कर सकती है। लेकिन एक क्रान्तिकारी कला को एक निष्क्रिय मज़दूर का चित्रण करते हुए दूसरे पहलू को भी दिखाना चाहिए, उसे विरोधाभास भी पैदा करना चाहिए जो कि परिस्थिति में मौजूद अन्तरविरोध को चिह्नित करे। निश्चित तौर पर, ऐसे मज़दूर भी होते हैं जो चुपचाप बर्दाश्त नहीं करते, बल्कि विद्रोह करते हैं। शुरू में वह विद्रोह व्यक्तिगत भी हो सकता है। लेकिन तब भी यह विद्रोह एक प्रतीक होता है, उम्मीद का और हार न मानने का।

आज पूँजीवादी शोषण और उत्पीड़न की चक्की में पिसने के बावजूद मज़दूर वर्ग बोझिल, बेचारगी से भरा हुआ या दया का पात्र नहीं है, जैसा मट्टो के किरदार को दिखाया गया है बल्कि तमाम पूँजीवादी क्षुद्रताओं के बावजूद मज़दूर हँसता भी है और दुखी भी होता है, उसे निराशा भी होती है और ग़ुस्सा भी आता है, वह कई बार हार भी मानता है और कई बार बग़ावत भी करता है। यह सच है कि आज निराशा का दौर है लेकिन कठिन निराशा-भरे दौर में भी निराशा के कारणों और निराशा को ख़त्म करने के रास्तों पर वैज्ञानिक ढंग से बात नहीं कर पाना आज के अँधेरे-काले दौर में मध्यमवर्गीय हताशा और प्रकृतिवाद को प्रदर्शित करता है। और साथ ही यह पूर्ण सच भी नहीं दिखलाता क्योंकि मौजूदा यथार्थ में ही लड़ने, हार न मानने और बग़ावत के उदाहरण भी हैं। कोई फ़िल्म मट्टो जैसे चरित्र पर ध्यान केन्द्रित करते हुए भी, समूचे चित्र को इस प्रकार पेश कर सकती है कि उसमें इन सम्भावनाओं की ओर भी इशारा हो।

कोई व्यक्ति यह कह सकता है कि प्रेमचन्द की कहानी 'कफ़न' में भी

(पेज 2 पर जारी)

शेखर जोशी की याद में

हमारे समय के सबसे बड़े कथाकारों में से एक, शेखर जोशी का इसी महीने की 4 तारीख़ को निधन हो गया। वे 91 वर्ष के थे और अब भी सक्रिय थे। वे हिन्दी के उन बिरले कहानीकारों में से थे जिन्होंने मज़दूरों, ख़ासकर औद्योगिक मज़दूरों के जीवन को अपनी कहानियों का विषय बनाया। उनकी याद में हम यहाँ उनके संस्मरणों के कुछ अंश दे रहे हैं जो बताते हैं कि मज़दूरों की जीवन और उनके संघर्षों की उनकी समझ एक श्रमिक के रूप में ख़ुद उनके जीवन से आयी थी। इन अंशों को हमने वरिष्ठ पत्रकार नवीन जोशी के 'आजकल' में प्रकाशित लेख से साभार लिया है। 'मज़दूर बिगुल' में हमने शेखर जी की कहानियाँ पहले प्रकाशित की हैं और अपने पाठकों के लिए हम श्रमिक जीवन के इस चितेरे की और रचनाएँ आगामी अंकों में प्रस्तुत करेंगे। – सं.

... ...

कारख़ाने की नौकरी के शुरुआती दिनों के बारे में शेखर जोशी ने लिखा है :

"कामकाजी दुनिया से यह मेरा पहला साक्षात्कार था। बल्कि यह कहना अधिक संगत होगा कि मैं अब इस दुनिया का एक हिस्सा बन गया था। अब तक की मेरी दुनिया बहुत सीमित रही थी। अपना कहने को घर-परिवार और नाते-रिश्ते के ही लोग थे। शेष दुनिया मेरे लिए बाहरी थी। जो कामकाजी लोग थे, जो हल चलाते, मकानों की चिनाई करते, बढ़ईगीरी करते, लोहा पीटते, बर्तन बनाते, वे हमारे लिए अस्पर्श्य थे। यहाँ तक कि दैनन्दिन जीवन में उनका स्पर्श हो जाने के बाद घर में प्रवेश करने से पहले हमें पानी के छींटे देकर शुद्ध किया जाता। अब मैं स्वयं उनमें से एक था। मोची, लोहार, बढ़ई, वैल्डर, मोल्डर, ठठेर, खरादिए, मिस्त्री, रंगसाज़ मेरे गुरु थे। मैंने उनसे दीक्षा ली थी। मुझे याद आता है, अपहोल्स्टर शॉप में जहाँ कैनवास और चमड़े का सामान बनता था, वहां एक सप्ताह के प्रशिक्षण के दौरान मेरा पहला शिक्षक एक बूढ़ा मोची था जिसने चमड़े के रोल में से एक लम्बी पट्टी काटकर उसमें रांपी से एक सीधी लकीर खींचकर सुए और तागे से सीधी सिलाई (गँठाई) करने की जब मुझे शिक्षा दी तब मैंने कैसा थ्रिल अनुभव किया था। उस्ताद की पैनी निगाह मेरे काम पर टिकी थी और सिलाई के एक भी टाँके के लीक से बाहर होने पर कैसी असन्तुष्ट आवाज़ उनके गले से निकल पड़ती थी!" ('जुनून', स्मृति में रहें वे, पृष्ठ 142)

कारखाने का वह जो जीवन था, वह इस कथाकार के भीतर कैसे उतर रहा था, कैसी छवियां गढ़ रहा था, कैसे रूपक और बिम्ब बना रहा था, कैसे हुनर और रिश्तों के पेच सीख रहा था, श्रम के सौन्दर्य की कैसी-कितनी परतें उसके सामने खुल रही थीं, शोषण और उसके कितने रूप वह देख रहा था, उसका जायज़ा लेने के लिए यहाँ एक लम्बा उद्धरण देना चाहूँगा :

"अपनी ढीली डांगरी पहनकर हम लोग वर्कशॉप के अलग-अलग विभागों में बिखर जाते। एक अद्‌भुत विस्मयकारी दुनिया हमारे चारों ओर फैली हुई थी। ... आर्मर शॉप के दूसरी ओर आरा मिल, बढ़ई शॉप और सिलाई शॉप थी और दूसरी ओर पेण्ट शॉप। लम्बे भारी लकड़ी के स्लीपर आरा मशीन के ऊपर मिनटों में चिरान होकर सुडौल तख़्तों में बदल जाते। दाँतेदार तवों या लम्बी दाँतेदार पट्टियों वाली ये दैत्याकार मशीनें पलक झपकते ही उन भारी स्लीपरों को डबलरोटी की तरह काट देतीं और आरी के दोनों ओर लकड़ी का बुरादा आटे के ढेर में परिवर्तित हो जाता। लकड़ी के चिरान की भी अपनी एक सौंधी गन्ध होती है—तवे में सेंकी जाती रोटियों की ख़ुशबू की तरह, और आरा मशीन का अपना संगीत होता है—किसी पहाड़ी झरने की झिर्र-झिर्र-सा। ... पेण्ट शॉप में स्प्रे मशीन से उठती सतरंगी फुहारों के बीच बदरंग काठ-कबाड़ को नया रूप मिलता। जो लोहा-लंगड़ कुछ समय पहले मुरझाए, बदरंग रूप में एक कोने में उपेक्षित-सा पड़ा रहता, वही रंगों का स्पर्श पाकर नयी दुलहन-सा खिल उठता। नाक-मुँह और सिर पर कपड़ा लपेटे आरा मिल के कारीगर और पेण्ट शॉप के रंगसाज़ अपनी नकाबपोशी में रहस्यमय लगते।

... यार्ड के बाद मशीन शॉप थी जहाँ बीसियों खराद, मिलिंग, होनिंग, बोरिंग, ग्राइण्डर, ड्रिलिंग और दूसरी कई तरह की मशीनें कतारों में स्थापित की गयी थीं। हर मशीन का अपना संगीत चलता रहता और जब प्राय: सभी मशीनें चालू हालत में होतीं तो पूरे शेड में एक अद्‌भुत आर्केस्ट्रा बज उठता। हर धातु का अपना सरगम होता है। उसी खराद पर अगर लोहा कट रहा हो तो उसकी कर्कशता काँसे या पीतल की खनकदार आवाज से बहुत भिन्न होती है। ग्राइण्डर पर कच्चे लोहे और ऊँचे किस्म के स्टील की रगड़ से पैदा होने वाली आवाज़ ही अलग नहीं होती, बल्कि उनकी फुलझड़ियों की चमक भी अलग-अलग रंगत की होती है। ... एसेम्बली लाइन में जहाँ अलग-अलग स्टेज पर विभिन्न कलपुर्जे गाड़ियों की चेसिस में जुड़ते, वहाँ इलेक्ट्रिक शॉप के अपेक्षाकृत शान्त वातावरण में विभिन्न प्रकार के बिजली उपकरणों का काम होता था। मशीनों का संगीत यहाँ भी था लेकिन मद्धिम सुर में। वह भले डायनामो की धूँ-धूँ हो या बीच-बीच में हॉर्न की पिपहरी।

... ढलाईघर का अपना विशेष आकर्षण था। लोहे की चौखटों में शीरे में गुँथी रेत के बीच लकड़ी के पैटर्न बिठाकर विभिन्न आकार में साँचे बनाये जाते और उन चौखटों में धातुओं को पिघलाकर डाल देने पर उन साँचों के आकार की वस्तुएँ तैयार हो जातीं। धातुओं को पिघलते और तरल होकर पानी की तरह बहते देखना कम रोमांचक नहीं होता। विशेष रूप से तब, जब उस पिघले पदार्थ से साँचे के गर्भ में एक नई आकृति का जन्म हो रहा हो। धातु के ठण्डा हो जाने पर चौखटों को खोलते हुए कारीगर को वैसी ही उत्सुकता होती है जैसे प्रसूतिगृह में किसी बच्चे के जन्म के समय माँ को होती होगी क्योंकि इस प्रक्रिया में जरा सी असावधानी आकृति को विरूपित कर सकती है, हवा का प्रवेश आकृति के शरीर में छिद्र पैदा कर सकता है और अपर्याप्त तरल पदार्थ उसे विकलांग कर सकता है।

... वेल्डिंग शॉप से ही सटा हुआ लोहारख़ाना था जहाँ दसियों छोटी-बड़ी भट्टियों में आँच धधकती रहती और ठण्डा काला लोहा गर्म होकर नारंगी रंग में बदल जाता। निहाई पर सँड़सी की गिरफ़्त में और घनों की लगातार चोटों के बीच लोहार द्वारा इधर-उधर घुमाये जाने के बाद वह लौह पिण्ड एक इच्छित आकार ले लेता। भारी घन चलाते हुए दो-दो लोहारों का क्रमश: एक ही लक्ष्य पर अचूक चोट करना और उन्हीं चोटों के बीच तीसरे व्यक्ति द्वारा लौह पिण्ड को अपनी इच्छानुसार संचालित करते देखना भी एक अनोखा अनुभव होता। इस लय-ताल में थोड़ा भी असन्तुलन बहुत महँगा पड़ सकता है लेकिन यही कारीगरी है जो दर्शक को एक युगल-नृत्य का आभास कराती है।" ('हमारा कोहिनूर', स्मृति में रहें वे, पृष्ठ 155-56)

इस 'अद्‌भुत' वातावरण में कहानीकार रोजी-रोटी के वास्ते ही पहुंचा था। और कोई विकल्प होता तो वह साहित्य से बहुत दूर की इस दुनिया को छोड़ने को तैयार भी था। प्रशिक्षण के लिए चयन के समय भरे गए बॉण्ड को तोड़ने की ऐवज में चुकाने के लिए चार हजार रुपए होने का सवाल ही न था। लिहाजा सुबह जल्दी तैयार होकर भागने, दिन भर कारखाने की नौकरी करने और देर शाम लौटने का यह सिलसिला जारी रहा। इसी के बीच समय निकालकर लेखन भी चलता रहा। जब भैरव जी के कहने पर कारखानों और मजदूरों के जीवन पर लिखना शुरू किया तो यह पूरा वातावरण उनके भीतर जीवंत हो उठा। दिल्ली में होटल वर्कर्स यूनियन के सानिध्य में जो वर्गीय चेतना प्रस्फुटित हुई थी, उसने मशीनों के पीछे के तेल-कालिख पुते चेहरों और दफ्तरों की कुर्सियों में धंसे गोरे-चमकदार चेहरों को पढ़ना सिखाया। यहीं उन्हें कथा-सूत्र मिलते गए और एक से एक चरित्र भी

"... तेल और कालिख से सने कपड़ों में ऐसी विभूतियाँ छिपी थीं, जिन्होंने मेरी ज़िन्दगी को नया ही अर्थ दे दिया। यह मेरा एक आत्मीय संसार बन गया। हमारी रचनात्मकता, हमारे संघर्ष, हमारी ख़ुशी और हमारा दर्द सब साझा था। यहीं मुझे 'उस्ताद' मिले जो न चाहते हुए भी अन्तिम क्षणों में अपने शागिर्द को काम का गुर सिखाने को मजबूर थे, यहीं हाथों की 'बदबू' में मैंने जिजीविषा की तलाश की। यहीं ईमानदार लेकिन 'मेंटल' करार दिये गए लोग थे, यहीं विरोध की चिंगारी लिये 'जी हजूरिया' क़िस्म के लोग थे, यहीं 'नौरंगी मिस्त्री' था और यहीं मैंने श्यामलाल का 'आशीर्वचन' सुना और इन सबको अपनी कहानियों में अंकित कर पाया।" ("डांगरीवाले' संग्रह की भूमिका, 1994)

– बिगुल डेस्क

"नैतिकता के किस मानदण्ड से एक दास द्वारा अपनी ज़ंजीरों को तोड़ने के लिए की गयी हिंसा को एक दास-मालिक की हिंसा के बराबर समझा जा सकता है?"

– वाल्टर रोडनी
(23 मार्च 1942 - 13 जून 1980)

"मज़दूर का अधिकार:
जो कोई भी कठिन श्रम से कोई चीज़ पैदा करता है उसे यह बताने के लिए किसी ख़ुदाई पैग़ाम की ज़रूरत नहीं कि पैदा की गयी चीज़ पर उसी का अधिकार है।"

– राबर्ट जी. इंगरसोल
(11 अगस्त 1833–21 जुलाई 1899)

"लोगों के सिर कलम कर दिये जाने को तो हम भयंकर मानते हैं, पर हमें जीवन-पर्यन्त बरक़रार रहने वाली मृत्यु की उस भयंकरता को देखना नहीं सिखाया गया है जो ग़रीबी और अत्याचार द्वारा व्यापक आबादी पर थोप दी गयी है।"

– मार्क ट्वेन
(30 नवम्बर 1835–21 अप्रैल 1910)

"अगर आप सावधान नहीं रहेंगे तो अखबार आपको उनलोगों से नफ़रत करना सिखा देंगे जिनका उत्पीड़न किया जा रहा है और उन लोगों से प्यार करना सिखा देंगे जो उत्पीड़न कर रहे हैं।"

– मैल्कम एक्स
(19 मई 1925 - 21 फरवरी 1965)

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2020-2022
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 5, प्रत्येक माह

इटली में धुर-दक्षिणपन्थी ज्यॉर्ज्या मेलोनी के आम चुनाव में जीत के मायने

– सनी

इटली में धुर-दक्षिणपन्थी ज्यॉर्ज्या मेलोनी की पार्टी ब्रदर्स ऑफ़ इटली के नेतृत्व में दक्षिणपन्थी गठबन्धन की सरकार बनने जा रही है। इटली की जनता के एक बड़े हिस्से ने राष्ट्रवादी और प्रवासी-विरोधी प्रचार में बहकर धुर-दक्षिणपन्थी मेलोनी और अन्य दक्षिणपन्थियों को चुनाव में बहुमत दिया है। ख़ास तौर पर उत्तरी इटली के सफ़ेद कॉलर मज़दूरों और निम्न मध्यवर्ग ने बड़े स्तर पर मेलोनी को वोट किया है। मेलोनी ने न सिर्फ़ बरलोस्कुनी के फ़ोर्जा इतालिया और मात्तियो साल्वीनी के दक्षिणपन्थी लीग के दक्षिणपन्थी वोट आधार का एक हिस्सा पाया है बल्कि 2018 में सरकार में आयी फ़ाइव स्टार मूवमेण्ट पार्टी के निम्न मध्यवर्गीय वोटरों को भी आकर्षित किया है। संकट से त्रस्त जनता ने मेलोनी की प्रवासी-विरोधी, 'इटली और इटलीवासी पहले' जैसी फ़िरकापरस्त सोच, इस्लाम-विरोधी और लीबिया पर नौसैनिक पाबन्दी सरीखी प्रतिक्रियावादी नारेबाज़ी को हाथों-हाथ लिया। पूरे यूरोप में इटली के मज़दूरों की आय सबसे कम है। ख़ासतौर पर दक्षिणी इटली में भयंकर ग़रीबी है। संकट का बोझ मज़दूरों पर डालने के लिए 2018 में सरकार ने श्रम क़ानूनों को लचीला बनाया था। कोविड संकट में चरमरायी स्वास्थ्य व्यवस्था और ग़रीबी के बाद अब ऊर्जा संकट के चलते अभूतपूर्व महँगाई ने आम जनता की कमर तोड़कर रख दी थी।

रूस और यूक्रेन युद्ध के कारण रूस ने यूरोप को दी जाने वाली प्राकृतिक गैस रोक दी है। प्राकृतिक गैस ही यूरोपीय देशों में बिजली और सर्दियों में गर्मी के इन्तज़ाम का स्रोत है। इसकी ऊँची क़ीमत का बोझ यूरोपीय देशों की ग़रीब जनता पर ही आया है। पहले से मौजूद आर्थिक संकट और अधिक गहरा गया है। इटली में मुद्रास्फिति नौ प्रतिशत तक जा पहुँची है। आर्थिक संकट के ही राजनीतिक संकट में तब्दील होने के कारण पिछले चार साल में तीन सरकारें गिर चुकी हैं और सही विकल्प के अभाव में एक अधिक धुर-दक्षिणपन्थी पार्टी की नेता सत्ता में पहुँच रही है। कोविड के संकट में बनी द्राघी सरकार में फ़ाइव स्टार मूवमेण्ट पार्टी, डेमोक्रेटिक पार्टी और बरलोस्कुनी की पार्टी और लीग शमिल थी। इस सरकार से पहले भी फ़ाइव स्टार मूवमेण्ट पार्टी और जनवादी पार्टी सरकार में रहे थे जो 2019 में लीग और फ़ाइव स्टार मूवमेण्ट पार्टी के गिरने पर बनी सरकार थी। इस राजनीतिक उथल-पुथल के दौरान मेलोनी सभी गठबन्धन सरकारों के विपक्ष में थी और विकल्प के तौर पर ख़ुद को पेश कर रही थी। इसका भी मेलोनी को फ़ायदा मिला और मौजूदा चुनाव में मेलोनी की पार्टी को सबसे अधिक वोट प्राप्त हुए हैं।

मेलोनी की पार्टी फ़ासीवादी नहीं है। मेलोनी ख़ुद फ़ासीवादी विचारधारा के जनक मुसोलिनी की प्रशंसक रही है और नौजवानी में नव फ़ासिस्ट ग्रुप का हिस्सा भी रही है परन्तु उसकी मौजूदा पार्टी एक धुर-दक्षिणपन्थी पार्टी है। इसका न ही काडर-आधारित संगठन है और न ही स्पष्ट फ़ासीवादी विचारधारा है। निश्चित ही, जनता के असन्तोष की लहर पर ही उसे वोट मिले हैं परन्तु उसे सत्ता में लाने वाला कोई निम्नमध्यवर्गीय संगठित प्रतिक्रियावादी आन्दोलन नहीं है। मेलोनी के बरक्स भारत में आरएसएस में यह तीनों चारित्रिक अभिलाक्षणिकताएँ मौजूद हैं।

मेलोनी की ब्रदर्स ऑफ़ इटली के नारे ज़रूर घनघोर प्रतिक्रियावादी हैं। वह ईसाई इटली को इस्लामिक प्रवासियों द्वारा इस्लामीकरण से बचाने का नारा देती है। वह पुलिसिया यंत्रणा को सही क़रार देती है। इटली में जन्मे प्रवासियों के बच्चों को नागरिक मानने वाले क़ानून को ख़त्म करना चाहती है। अभी तक यूरोपियन यूनियन से अलग होने का राग अलापने वाली मेलोनी अचानक इस सवाल पर चुप हो गयी है। दरअसल यह एक घनघोर मज़दूर-विरोधी और पूँजीपरस्त नेता और पार्टी है जिसका मक़सद मेहनतकश जनता को धर्म और प्रवासी बनाम ग़ैर-प्रवासी के नाम पर बाँटकर पूँजीपति वर्ग की सेवा करना है और मेहनतकश अवाम के सामने इस्लाम और प्रवासियों को नक़ली शत्रु के तौर पर खड़ा कर असल मुद्दों को धूमिल करना है।

मेलोनी ग़रीब जनता के लिए 'नागरिक मज़दूरी' (सिटिज़न वेज) के प्रावधान को हटाकर नौकरी देने का वायदा कर रही है। वह ट्रम्प की तरह इटली में इटलीवासियों के लिए नौकरी वापस लाने का नारा दे रही है। 'नागरिक मज़दूरी' को निकम्मों और भ्रष्टाचारियों द्वारा इस्तेमाल करने का जुमला उछाल वह मोदी की ही तरह देश के मज़दूरों को "आत्मनिर्भर" होने का नारा दे रही है। 'नागरिक मज़दूरी' की बेहद मामूली मदद फ़ाइव स्टार मूवमेण्ट पार्टी ने शुरू की थी जिस कारण इस चुनाव में भी दक्षिणी इटली की ग़रीब जनता के बल पर इसे 15 प्रतिशत तक वोट मिल गये। परन्तु उसकी पार्टी का वोट आधार का एक हिस्सा भी मेलोनी के पास स्थानान्तरित हुआ है। दरअसल मेलोनी की राजनीति की ज़मीन फ़ाइव स्टार मूवमेण्ट पार्टी और अन्य दलों की राजनीति के घिसने से ही बनी है। 2018 के चुनाव में फ़ाइव स्टार मूवमेण्ट पार्टी सरकार में आयी थी और चुनाव से पहले गठबन्धन सरकार में भी शामिल थी। इस पार्टी ने कोविड से पहले ग़रीबी की मार झेल रही जनता के समक्ष कई लुभावने जुमले छोड़े थे और जनता के समक्ष 'आम आदमी पार्टी' की तरह इसके वायदे भी सभी वर्गों के लिए थे और पूँजीपति वर्ग और विशेषकर छोटे व मँझोले पूँजीपति वर्ग को छोड़कर किसी को कुछ नहीं देते थे। फ़ाइव स्टार मूवमेण्ट पार्टी ने धुर-दक्षिणपन्थी लीग के साथ सरकार बनायी थी। ग़रीबों के पक्ष में किये गये वायदे सरकार बनने के बाद से ही लीग और फ़ाइव स्टार के एजेण्डे से ग़ायब हो गये। सरकार बनने की प्रक्रिया में ही लीग द्वारा पेश शर्तों ने यह साफ़ कर दिया कि सरकार चलाने में उसकी मंशा क्या है। 2019 में बनी दूसरी गठबन्धन सरकार और फिर द्राघी सरकार के दलों के वोट के कम होते जाने के साथ ही मेलोनी का उभार हुआ है।

इटली में भी यह बात साबित हुई है कि मौजूदा साम्राज्यवादी विश्वप्रणाली में गहराते आर्थिक संकट ने साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा को बेहद तीखा किया है और तमाम देशों में दक्षिणपन्थी या फ़ासीवादी प्रतिक्रिया को मज़बूत किया है। सही सर्वहारा राजनीतिक लाइन को अमल में उतार सकने वाली क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी के अभाव में तमाम दक्षिणपन्थी पार्टियाँ, फ़ासीवादी पार्टियाँ निम्न मध्यवर्ग को लोकरंजक नारों और उनके संकट को दूर करने के ख़्वाब दिखाकर सत्ता में पहुँच रही हैं। फ़ासीवाद 'अच्छे दिनों' के सपनों के साथ मिथकों और मिथ्या दुश्मनों को पेश करता है जो उसकी फ़ासीवादी विचारधारा के अनुरूप होता है। वहीं तमाम धुर-दक्षिणपन्थी पार्टियाँ भी इसके आसपास ऐसे ही नारों और व्यवहारवादी राजनीति का अनुपालन करते हुए जनता को मूर्ख बनाती हैं। 2008 के संकट और उसके बाद यूरोपीय सार्वभौम ऋण संकट के गहराने के कारण यूरोप में निम्न मध्यवर्गीय राजनीति की तमाम रंग की पार्टियों का उभार हुआ जिसमें लोकरंजकतावादी वाम के छोर पर यूनान की सिरिज़ा थी तो वामपन्थ के सबसे दक्षिण सिरे पर फ़ाइव स्टार मूवमेण्ट। हालाँकि फ़ाइव स्टार मूवमेण्ट ने कभी अपने को वामपन्थी नहीं कहा परन्तु इसने जनता पर किफ़ायतसारी की नीतियाँ लागू करने का विरोध किया, सार्वभौम ऋण को ख़त्म करने की बात कही और तमाम भ्रष्ट और बेईमान नेताओं की जगह जनता के भागीदारी वाले जनवाद पर आधारित राज्य की स्थापना की बात कही थी। इसके कई लक्षण आम आदमी पार्टी से मिलते-जुलते हैं। तमाम लोकलुभावन नारे देकर आज यह पार्टी एक भयंकर मज़दूर-विरोधी पार्टी के साथ सत्ता में शामिल है। लम्बी मन्दी के दौरान एक-एक पार्टी जनता के समक्ष नंगी होती जा रही है और क्रान्तिकारी राजनीति के अभाव में धुर-दक्षिणपन्थ और फ़ासीवाद की ज़मीन भी मज़बूत हो रही है। हंगरी में ओरबान, स्पेन में वाक्स से लेकर फ़्रांस में मेरी लॉ पेन सरीखे धुर-दक्षिणपन्थी नेताओं की राजनीतिक ज़मीन मज़बूत हुई है। आर्थिक संकट के तात्कालिक तौर पर टलने का आसार नहीं है जिसका बोझ मज़दूर वर्ग पर डालने का काम 2018 से बनी इटली की हर सरकार करती रही है। इस प्रतिक्रिया की लहर का मुक़ाबला क्रान्तिकारी पार्टी के नेतृत्व में संगठित मज़दूर वर्ग ही कर सकता है। आज इटली से लेकर दुनियाभर में मज़दूर वर्ग के समक्ष यही चुनौती है।

"हालाँकि दुनिया उठ खड़ी हुई और उसने उस हरामज़ादे की नकेल कस दी, लेकिन उसे जनम देने वाली कुतिया अब फिर से गरमाई हुई है।"

– हिटलरकालीन जर्मनी के प्रसिद्ध कवि और नाटककार **बेर्टोल्ट ब्रेष्ट** ने हिटलर के ख़ात्मे के कुछ ही वर्षों बाद पूँजीवादी संकट और उसके परिणामस्वरूप उभर रही नवफ़ासीवादी प्रवृत्तियों के बारे में 1950 के दशक में यह बात कही थी। आज हम देख रहे हैं कि विश्व-पूँजीवाद की बूढ़ी कुतिया ने कई फ़ासिस्ट पिल्ले जने हैं जो कहीं ताक़तवर तो कहीं मरियल हैं पर हैं बेहद खूँख्वार। यह कार्टून ब्राज़ील के प्रसिद्ध राजनीतिक कार्टूनिस्ट **लातूफ़** ने 2012 में बनाया था।

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, ातगंज, लखनऊ-226006